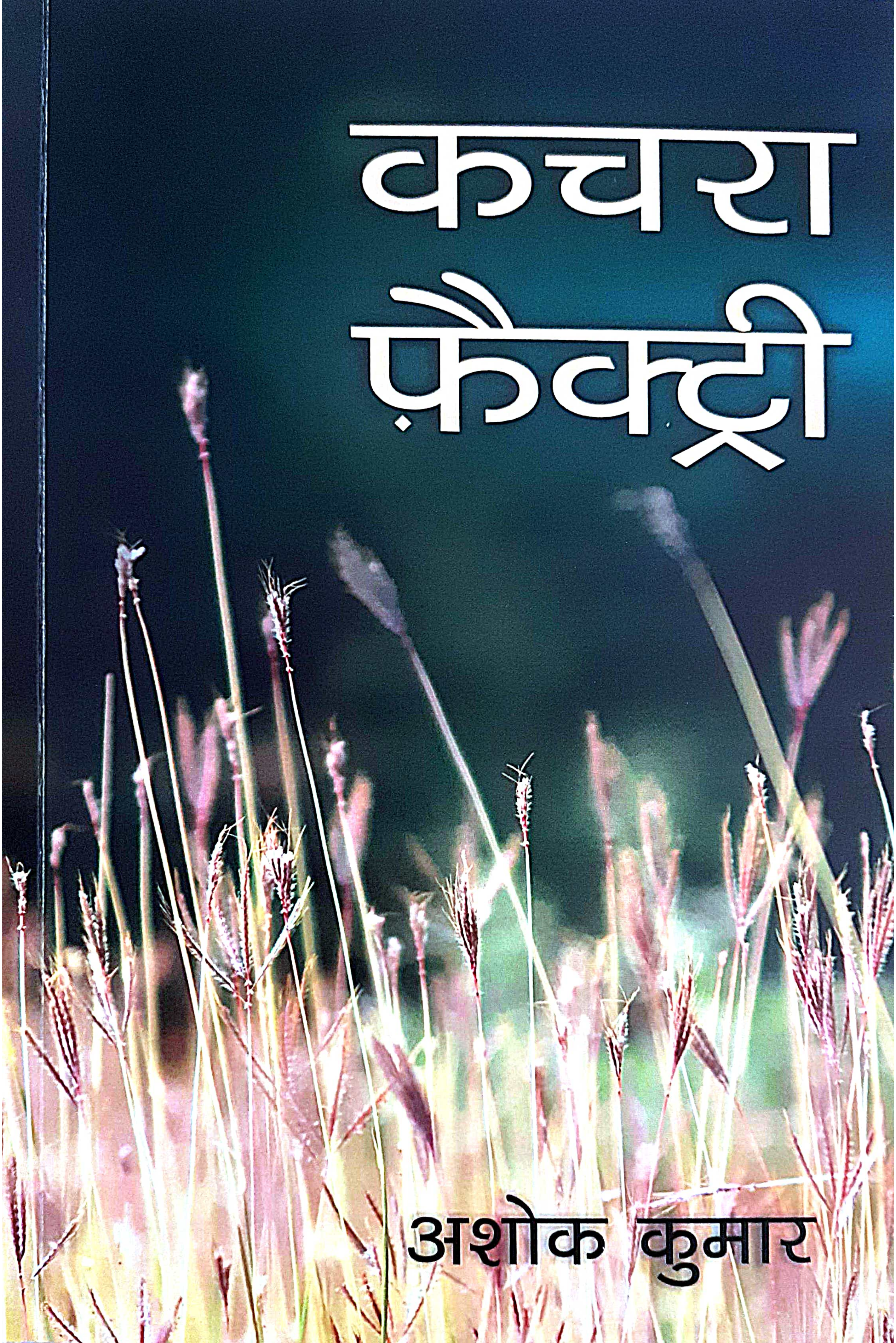
कचरा फ़ैक्ट्री



अशोक कुमार

यह पुस्तक लघु कहानियों का संकलन है। इसकी अधिकतर कहानियां जानी मानी हिंदी की साहित्यिक पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं। संकलन की सभी कहानियां इशू बेस्ड हैं। इशू जो हमारे इर्द गिर्द के हैं और किसी भी संवेदनशील व्यक्ति को प्रभावित करते हैं, सोचने पर मजबूर करते हैं और बहुतों को कुछ करने/सुधारने के लिए प्रेरित भी करते हैं। इशू केवल वे नहीं होते जो दीखते हैं, इशू वे भी होते हैं जो अ-लिखित अस्पष्ट रूप से समाज में व्याप्त हैं और केवल आत्मनिरीक्षण द्वारा ही महसूस किये जा सकते हैं, समझ में आते हैं।

अक्सर हम जो कह रहे होते हैं उसी के अंदर जो बात अनकही होती है या निहित होती वो कहे हुए शब्दों से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। कहानी / कविता यदि उस निहित भाव को पकड़ कर पैदा होते/चलते है तो प्रभावशाली भी होते हैं, अपने को पढ़वा भी लेते हैं और पाठक पर असर भी डालते हैं। मेरे ख्याल से अच्छी कहानी की शर्त ये भी है कि वह मह्सूसात से जन्म ले, ढोंग का या ओढ़ा हुआ लेखन कभी असरदार नहीं हो सकता।

इस पुस्तक 'कचरा फैक्ट्री' की सभी कहानियां किसी न किसी इशू पर आधारित होने के साथ साथ मह्सूसात द्वारा जन्मीं हैं।

लेकिन वो कहानी भी क्या कहानी जो अपने को पढ़वा न ले और अपने को पढ़वाने के लिए कहानी की पहली शर्त है कि वह पाठक को पसंद आये, रोचक लगे, चित्तरंजक लगे। मुझे आशा है की इस संकलन की सभी कहानियां पाठकों को पसंद भी आएंगीं और उनके मन को उद्वेलित भी करेंगीं। इसी आशा के साथ।

— अशोक कुमार

कचरा फ़ैक्ट्री

अशोक कुमार

अनुज्ञा

अनुज्ञा

प्रथम संस्करण : 2019

ISBN 978-93-86835-08-6

प्रकाशक

अनुज्ञा बुक्स

1/10206, लेन नं. 1E, वेस्ट गोरख पार्क, शाहदरा, दिल्ली-110 032
e-mail : anuugyabooks@gmail.com • salesanuugyabooks@gmail.com
फोन : 011-22825424, 09350809192
www : anuugyabooks.com

मूल्य : 200 रुपये

आवरण सज्जा

मीना-किशन सिंह

मुद्रक

अर्पित प्रिंटोग्राफर्स, दिल्ली-32

Kachra Factory
Collection of short storis *by* Ashok Kumar

विषय सूची

भूमिका

इस संकलन की कहानी 'कचरा फैक्ट्री' हालाँकि शहर के कचरा-संसाधनों के प्रबंधन/व्यवस्थापन से ताल्लुक़ रखती है मगर ये दरअसल समाज में जड़ों तक पहुँच गए भ्रष्ट आचरण के बहुआयामी पहलुओं को उजागर करती है। लेकिन कचरा हमारे जीवन में और आस पास केवल व्यवस्था जनित ही नहीं है, हमारे प्लास्टिक रिश्तों, सही पे खड़े हो कर ग़लत को ललकारने की क्षीण होती क़ुव्वतों और पैसा जनित बढ़ती हुई हेकड़ी में और सामाजिक परिस्थितियों की आड़ में स्वान्तः तथा ऐन्द्रियः सुखाय स्वार्थ-सिद्धि में भी कम नहीं है।

राजनेता अगर सरकार बनाने के लिए गुंडों का सपोर्ट लेते हैं तो गुंडे भी राजनीति की आड़ में ट्रैफिकिंग का धंधा सीधा कर लेते हैं (राजनीति के साइड इफेक्ट्स)। आजकल माँ को नौकरानी बना देना और अपने बच्चे बड़े हो जाने के बाद उसे किसी अनाथ आश्रम में मरने के लिए छोड़ देना अगर आम बात है (बेटा..ए बेटा..) तो यह भी आम बात है कि जिस बेटे के लिए बाप अपना सारा जीवन न्यौछावर कर देता है उसी बाप को बेटा रुला रुला मारता है (छत).लोग कोशिश नहीं करते वरना कोई मामूली सीधा सादा आदमी भी चीज़ों की ठीक करने/बदलवाने में सक्षम है (सड़क)।

ऐसा नहीं है कि यह सारी बातें यहीं होती हों, इंसान सब जगह एक से हैं,नई टेक्नोलॉजी सबको सभी जगह सब प्रकार से प्रभावित कर रही है। जहाँ सुविधाएँ प्रदान कर रही है,नयी तरह से लोगों को बर्बाद भी कर रही है वो चाहे भारत हो या अमरीका (साईबेरेटी) और ऐसा भी नहीं है कि सारा इंटरनेट या सोशल मीडिया ग़लत इस्तेमाल से भरा है,लोग इसका सही इस्तेमाल करके समाज की सेवा में भी लगे हैं और वो भी स्वार्थ रहित तरीके से (आत्म-हत्या)। लोग चाहे जहाँ के भी हों,कैसे भी हों किसी भी भाषा के हों सबकी कुंठाएं, दुविधाएं, संवेदनाएं, भावनाएं तक़रीबन एक सी ही होती हैं और उनके अंदर आनंदित होने की जो प्यास है वो भी तक़रीबन एक सी ही है (अपना अपना शून्य)

ये दुनिया अगर एक घर है और इसके सब लोग एक ही घर के सदस्य हैं तो मैं भी इसी घर का हिस्सा हूँ और ये सब लोग भी मेरे अपने हैं। मैं सिर्फ छत के छज्जों से झुक कर यहाँ के सब लोगों और उनकी तमाम बातों को साफ़ देख रहा हूँ-उन नज़रों से जिन्होंने इस घर के आँगन,सीढ़ियां और छत देखे हैं और चारों तरफ के माहौल को भी देखा है। ये कहानियां अपने मह्सूसात को क़लम देने की कोशिश है।

ये मेरी सोच है, अपने एहसासात हैं, अपनी नज़र है ज़रूरी नहीं कि यही औरों की भी हो। हालांकि लोगों की मुहब्बत ने मुझे बिगाड़ दिया है और उन्हें ये सब इतना ठीक लगा कि मैं इस ख़ुशफहमी में रहने लगा हूँ कि यही और सही सोचने वाले भी सोचते हैं।

बहरहाल! ये जो है वो अब आपकी नज़र है!

—अशोक कुमार

कचरा फ़ैक्ट्री

"दादा बड़ा न भैय्या, सबसे बड़ा रुपैय्या!" क्योंकि भैय्या चाहे भी तो रूपैये के बग़ैर कुछ कर नहीं सकता। रुपया है तो रुतवा है, इज़्ज़त है, ज़रूरत-ग़ैर ज़रूरत की ख़रीददारी है, हर प्रकार का ऐश है! इसी रूपये के लिए तमाम लोग युगों-युगों से नहरों, नदियों, सागरों, देशों– कहाँ-कहाँ नहीं भटके! अमरीका की तो ईजाद ही इसी 'भटकन' के चलते हुई थी और भारत! भारत की तो खोज ही इसलिए हुई थी कि 'अमीरों का देश है, बड़े ख़रीदार मिलेंगे, अपना माल बेचने के बड़े मौक़े मोहय्या होंगे'! यानी सब कुछ इस 'रुपैय्ये' के लिए, पैसा कमाने के लिए। कमाने का सबका अपना-अपना तरीक़ा है। कुछ लोग अपना माल बेचने के लिए नए-नए मार्केट ढूँढ़ते हैं, कुछ लोग मौजूदा मार्केट परिस्थितियों में कमाने के नए-नए तरीक़े ईजाद करते हैं। इतिहास गवाह है नए मार्केट ढूँढ़ने वालों ने कहाँ-कहाँ सफ़र नहीं किया! हाँ! जब से इंटरनेट आया है ज़माना बदल गया है। अब लम्बी-लम्बी तकलीफ़देह यात्राएँ नहीं करनी पड़तीं। अब 'माउस' पर एक क्लिक किया कि दुनिया स्वयं सामने आ जाती है।

ऑस्टिन, टेक्सास, यू. एस. ए. के जेम्स विलियम्सन ने भी 'माउस' पर क्लिक किया और ढूँढ़ना शुरू किया। ढूँढ़ना शुरू किया कि वह अपनी ईजाद की हुई 'गार्बेज डिस्पोज़ल' वाली टेक्नोलॉजी– जिसे उसने पेटेंट कर लिया था– कैसे और कहाँ बेच सकता है। जेम्स की 'लेबोरेटरी-बेस्ड' टेक्नोलॉजी के हिसाब से शहर का टनो कचरा बड़े-बड़े ट्रकों में लाया जाकर 'लैब' के बड़े-बड़े ड्रमों में प्रेशर से घुमाया और दबाया जाता। वहाँ से इसे बड़े-बड़े 'वेसल्स' में ट्रांसफर किया जाता जहाँ कचरे के सब अवयव-काँच, प्लास्टिक इत्यादि अलग किए जाते। फिर इसे ऐसे 'ट्रीट' किया जाता कि कचरे से उसकी बदबू दूर हो जाए। इसके बाद मशीन के अंत में से एक काले गाढ़े पेस्ट जैसा पदार्थ प्राप्त होता जिसे उसी प्लांट की दूसरी मशीन में ट्रांसफर करके सुखाया जाता और उस सूखे हुए पदार्थ के गोल-गोल केक की तरह के टुकड़े काटे

जाते। ये 'केक 'इंडस्ट्रियल प्लांट्स' की फ़र्नेसेस में ईंधन के तौर पर काम आने वाले होते जो कि कोयला जलाने से कई गुना सस्ता बैठते। कचरा जमा करने से केक बनने तक का 'प्रोसेस' लम्बा था। लेकिन जेम्स ने इसे पहले सोचा था, प्रयोग किया था, पेटेंट कर लिया था और अब वो जो चाहे उसे इस तकनीक को बेचना चाह रहा था। हालाँकि अमरीकन प्रेस ने जेम्स की इस तकनीक की तारीफ़ों के पुल बाँध रखे थे और इस वजह से दुनिया उसकी इस ईजाद से वाक़िफ़ थी लेकिन इसके बेतरह महँगे होने के कारण इसके ख़रीदार बहुत ज़्यादा नहीं थे। यही वजह थी कि जेम्स ने पश्चिमी दुनिया के मार्केटिंग का गोल्डन रूल अपनाया– 'जब विकसित देशों में मार्केट न मिले तो ग़ैर-विकसित या कम विकसित देशों– जिसे दुनिया तीसरी दुनिया भी कहती है– में अपना माल बेच दो' ! जेम्स ने अपनी टेक्नोलॉजी का बखान करते हुए तमाम देशों/शहरों को तमाम ई-मेल भेजे– सरकारों को, सरकारी एजेंसियों को, म्युनिसिपल कॉर्पोरेशंस को, सोशल बॉडीज को एन.जी.ओज. को, अख़बारों को और-और भी तमाम को। लेकिन ये सिलसिला बहुत दिनों से चल रहा था और कहीं से कोई संतोषजनक जवाब न आने के कारण जेम्स का सब्र अब जवाब देने लगा था। नवम्बर का महीना चल रहा था, सर्दियाँ बस शुरू होने को थीं और सर्दियों में उसे मालूम था कि कचरे की प्रॉब्लेम और मौसमों की तुलना में कम होती है, इसलिए ऐसी टेक्नोलॉजी की ख़रीदारी भी मुश्किल होती है। जेम्स को रह-रहकर ये कचोट रहा था कि कहीं इस साल भी उसे अपनी बचाई हुई मूड़ी में से ही काम न चलाना पड़े।

उस साल बम्बई से सटे ठाणा शहर में नवम्बर का कोई ख़ास असर नहीं था। मौसम साफ़ था, गर्मियाँ बरक़रार थीं और शाम के पाँच के आस-पास स्टेशन के पूर्व वाले बड़े से गांधी मैदान में धूप झुलसा रही थी। एक तरफ़ बड़ा-सा पंडाल लगा था। तक़रीबन दो हज़ार लोग खड़े/बैठे सुन रहे थे और शहर की लोकप्रिय कॉर्पोरेटर नीला शेट्टी भाषण दे रही थीं।

"हम कितने भाग्यशाली हैं कि सत्यदेव शर्मा जी ने अपनी सेवाओं के लिए अपने शहर ठाणा को ही चुना।" नीला शेट्टी ने मंच पर बैठे गणमान्यों में सत्यदेव की तरफ़ हाथ का इशारा करते हुए गर्दन मोड़कर कहा, "ये ठाणे में कचरा फ़ैक्ट्री शुरू करने जा रहे हैं। अब शहर के कचरे की सारी समस्याएँ समाप्त हो जाएँगी।"

सब ने ताली बजाई, नीला जी ने अपनी कुर्सी के पास आकर माथे का

पसीना पोंछा, शर्मा ने खड़े होकर हाथ जोड़े, कमर झुकाकर नीला जी का आभार व्यक्त किया और पब्लिक की ओर हाथ हिलाकर उसके प्रोत्साहन का धन्यवाद किया। सभा समाप्त हो गई। कचरा फ़ैक्ट्री लगाने की शुरुआत हो गई।

शर्मा जी के पूर्वज बुंदेलखंड में झाँसी के पास के एक छोटे-से गाँव 'पिछोर' से आकर कभी ठाणे शहर में बस गए थे। ठाणा तब रुतबा भले ही ज़िले का रखता हो, था तो गाँव जैसा ही। हाँ, सुविधा के मामले में बम्बई से सटा था इसलिए बम्बई में काम करने वाले सस्ते में यहाँ रह सकते थे। पिता संस्कारी थे और थोड़े में गुज़ारा करना उनकी मजबूरी जनित ही सही लेकिन आदत बन गई थी। सत्यदेव की शिक्षा ठाणे के ही एक सरकारी स्कूल में हुई थी। बचपन से ही ये स्वयंसेवक के तौर पर संघ की शाखा के सदस्य रहे, बाद में कार्यकर्ता हो गए। इमरजेंसी में जेल भी हो आए। लोग सिखाते रह गए की सत्तो! दुनिया को दस्तूर है कि 'दुनिया ठगिए मक्कर से, रोटी खइये शक्कर से'...। कछु करो कि लाइफ बने...ईमानदारी को जमानो नईं रओ...! लेकिन शर्मा जाने किस मिट्टी के बने थे। टूटने को तैयार मगर झुकने को नहीं। देशसेवा इनके सर में जूनून की हदों तक था और निःस्वार्थ भाव अन्तर में कूट-कूटकर भरा था। बोलते बहुत कम थे। सफ़ेद कुरता, सफ़ेद पजामा, काला बग़ैर चमड़े का जूता –जो इनके साँवले रंग पर फबता भी था– इन्होंने जैसे अपनी ड्रेस बना ली थी। बी.एस-सी. तक पढ़े थे। घर अभी तक पिताजी की पेंशन से किसी तरह चल रहा था, लेकिन अब पिताजी भी चला-चली पे थे। ज़िम्मेदारी इन पर आने वाली थी। सिफ़ारिश में ये विश्वास नहीं करते थे, इसलिए नौकरी न थी न मिलने की कोई उम्मीद थी। और फ़ितूर ये था कि यदि काम किया जाए तो ऐसा कि जो देश हित में और जनसेवा का हो। 'करो तो परमार्थ, स्वार्थ तो सभी करते हैं!" कैमिस्ट्री इनका प्रिय विषय था और भारतीय पुरातन शास्त्रीय विद्या में हद दर्जा रुझान। तो सब प्रकार के मंथन से जो निकला वो था शहर का कचरा ट्रीट करने की फ़ैक्ट्री! हालाँकि इन्होंने ऐसी फ़ैक्ट्री लगाने का कई लोगों/कंपनियों को सुझाया था लेकिन ठाणे पूर्व की कॉर्पोरेटर नीला शेट्टी ने सुना तो उछल पड़ीं। उन्हें ये 'आईडिया' भी पसन्द आया और ये 'सीधा-सादा' आदमी भी। नीला जी ने शर्मा को अपने क्षेत्र के शहर का हर हिस्सा घुमाया, सर्वे कराया, एक बड़ा-सा ख़ाली पड़ा मैदान अलॉट करवा दिया और कचरे की फ़ैक्ट्री लगाने के सारे इंतज़ाम मोहय्या करवा दिए। और जब सरकार साथ दे तो हर तरह से हाथ बँटाने के लिए 'बन्दे' तो

तमाम तैयार हो जाते हैं!

शर्मा का ठाणे महानगर पालिका- टी.एम.सी.– के साथ क़रार हो गया। क़रार ये था कि टी. एम. सी. शहर का कचरा अपने ट्रकों में भरवाकर शर्मा की फ़ैक्ट्री में 'डम्प' करवा देगी। कचरा 'डिस्पोज़' करने की शर्मा की तकनीक काफ़ी सरल थी। जिसके हिसाब से डम्प किए हुए कचरे के बड़े-बड़े ढेरों पर किसी आयुर्वेदिक पद्धति से बनाए गए एक मिश्रण का छिड़काव किया जाता– जिससे कचरे की बदबू एक दम ग़ायब हो जाती। फिर इस कचरे को एक घूमती हुई बहुत बड़ी बेलनाकार मशीन में डाला जाता जहाँ कि कचरे के प्लास्टिक, काँच इत्यादि अवयव अलग हो कर एक तरफ़ बाहर निकल जाते और दूसरी तरफ़ निकलता भूसानुमा खेती में काम आने वाला खाद। मशीन में बाक़ी बचे पदार्थ को पानी भरे बन्द टब में भेज दिया जाता जहाँ वह एक पतले और हल्के नीले रंग के 'लिक्विड' में तब्दील हो जाता जो पैकेटों/डिब्बों में पैक होकर 'क्लीनिंग लिक्विड' की तरह इस्तेमाल किया जा सकता। इस सब से दो बातें होना तय थीं। एक कि शहर बिना किसी ख़र्च के साफ़ किया जा सकेगा और दूसरे कि शर्मा इस खाद और क्लीनर को बेचकर कमाई कर सकेगा। टी.एम. सी. और शर्मा के बीच पैसे का कोई आदान-प्रदान नहीं होना था। अलॉट किया गया ज़मीन का प्लाट लीज़ पर दिया गया था जिसका शर्मा को टी.एम.सी. को हर साल निश्चित किराया देना था।

कचरा फ़ैक्ट्री शुरू हुई नहीं कि ठाणे शहर साफ़ रहने लगा। बड़े-बड़े नेता, गणमान्य सोशल वर्कर्स, बुद्धिजीवी, पर्यटक जब शहर में पधारते तो कचरा फ़ैक्ट्री देखने ज़रूर पहुँचते। 'आखिर देखें तो सही क्या अजूबा है! कचरे की ट्रीटमेंट! -न कभी सुना न देखा!' ठाणे-दर्शन की टूरिस्ट बसों के लिए कचरा फ़ैक्ट्री भी एक 'स्टॉप' बन गया। जो देखता तारीफ़ों के पुल बाँध देता। शर्मा का सीना फूल जाता लेकिन वे सिर्फ हल्के से मुस्कुराकर हाथ जोड़कर तारीफ़. करने वालों का आभार व्यक्त कर देते। तक़रीरों में, सभाओं में, कमेटियों में कचरा फ़ैक्ट्री का श्रेय मिलता नीला शेट्टी को और वे जिस शान से साड़ी का पल्लू कन्धों पर उछालकर अपना माथा ऊँचा करके मुस्कराहट छुपाने की कोशिश करतीं वह तारीफ़.के क़ाबिल होता।

माहौल ऐसा ही ख़ुशगवार और साफ़-सुथरा था, जब ठाणे महानगर पालिका के नए कमिश्नर श्री चललादोरई ट्रांसफर होकर शहर में आए। आए तो वो भी कचरा फ़ैक्ट्री देखने गए और अपनी 'विजिट' के बाद सफ़ेद सरकारी

एम्बेसडर में बैठते-बैठते शर्मा की पीठ थपथपाते हुए बोले–'इनक्रेडिबल'!

कचरा साफ़ होता रहा, फ़ैक्ट्री चलती रही, तीन महीने तीन दिनों की तरह आनन-फ़ानन में गुज़र गए।

एक दिन! दोपहर का वक़्त था नीला शेट्टी अपनी कत्थई ओपल एस्ट्रा में फ़ैक्ट्री में दाख़िल हुईं। धूप और गर्मी बेतरह थी। वरांडे में दस क़दम पर शर्मा का केबिन था। नीला जी ने घुसते साथ अपना बैग धम्म से मेज़ पर पटका, माथे पर छलछला आया पसीना पोंछा और कुर्सी खींचकर बैठते हुए पूछा, "और शर्मा! क्या हाल है?"

"आपकी कृपा है मैडम!" शर्मा को नीला के आने की कोई सूचना नहीं थी। वह ताज्जुब और शिष्टाचार दोनों के मिले-जुले भाव से कुर्सी से उठा और उसने हाथ जोड़कर नमस्कार किया। फिर फ़ौरन मेज़ पर लगी 'बॉय' को बुलाने के लिए घंटी टनटनाई। "क्या पिएँगी?...। चाय, ठंडा...

"नईं नईं वो सब छोडो," नीला ने बात काटते हुए जल्दी में कहा, "देखो शर्मा," और वे बग़ैर समय बर्बाद किए सीधे 'पॉइंट' पर आ गईं, "इलेक्शन आ रहे हैं, तुम मुझे पाँच लाख दो।

"पाँच लाख!" शर्मा अपनी कुर्सी में वापस बैठते-बैठते ठिठक गया।

"एक्चुअली," नीला ने अपने मुँह पोंछे हुए रुमाल को तहाकर थपथपाया और अपनी जाँघ पर ऐसे रखा जैसे कि वह रूमाल नहीं कोई ईंट हो। फिर बोलीं, "मैंने तुम्हारी मदद की है। इसलिए लेना तो तुमसे मुझे ज़्यादा चाहिए लेकिन तुम अच्छे आदमी हो इसलिए फ़िलहाल सिर्फ पाँच से ही काम चला लूँगी।"

शर्मा की बुद्धि जड़ हो गई। समझ में कुछ नहीं आया कि क्या कहे, क्या जवाब दे, क्या करे। एक मिनट अपने चश्मे के अन्दर आँखें मिचमिचाने के बाद उसके मुँह से केवल इतना निकला कि, "मैडम, इतना पैस तो मेरे पास नहीं है।" फिर जैसे उसे स्थिति का भास हुआ और उसकी सिद्धान्तवादी बुद्धि ने साथ दिया, बोला, "लेकिन अगर मेरे पास इतना पैसा होता भी तो भी मैंने ऐसा कोई अनुचित काम तो किया नहीं जिस कारण मुझे किसी नेता को रिश्वत देनी पड़े। मैं समझता था कि आपने मेरी मदद इसलिए की है कि ये प्रोजेक्ट ठाणे में लोगों की भलाई के लिए है।"

"पर मेरी भलाई का क्या...?...और ये सिद्धान्तवादी भाषण मत सुनाओ मुझे। कोई जल्दी नहीं है। सोच लो। इम्मीडिएटली नहीं, पैसा मुझे अगले हफ्ते

तक चाहिए।"

"मैं तब तक भी नहीं दे पाऊँगा।" शर्मा ने सपाट कहा।

"आई सी! ओ के ...!" नीला शेट्टी ने अपनी कुर्सी पीछे खिसकाई, उठ कर खड़ी हुई और बैग उठाकर सीधे दफ़्तर के बाहर वाक-आउट कर गई।

शर्मा अविश्वास से किंकर्तव्यविमूढ़, जड़ हो गई बुद्धि लिए बैठे उसे कैंबिन के बाहर जाते हुए देखता रह गया।

इस मीटिंग का नतीजा नज़र आया दूसरे दिन। जब शहर के सबसे ज़्यादा बिकने वाले अखबार मे हेडलाइन छपी– "कचरा फ़ैक्ट्री से उठती बदबू से शहर में तमाम बीमार।" ख़बर की शुरुआती पंक्तियों में कचरा फ़ैक्ट्री की तारीफ़.में लिखा गया था कि कचरा 'ट्रीट' करने के लिए इससे अच्छा विकल्प हो ही नहीं सकता था और लोगों के भले के लिए इसे लगाना सही था। बाद में लिखा गया था कि इस फ़ैक्ट्री से उठती बदबू ने आस-पास के रहिवासियों का जीना दूभर कर दिया है। कुछ बच्चे तो अब तक बीमार भी पड़ चुके हैं और बहुतों को साँस की तकलीफ शुरू हो गई है। अस्पतालों में बीमारों की लाइन लग गई है और क़रीब में रहने वाले लोगों के लिए रातें काटना भारी हो रहा है। ख़बर के ज़रिये सलाह दी गई थी कि इस सब के मद्देनज़र बेहतर यही होगा कि यह कचरा फ़ैक्ट्री बन्द कर दी जाए।

रिपोर्ट शर्मा ने पढ़ी तो उसने उसे कल की मीटिंग से जोड़ा। कमिश्नर के मुस्कराहट छूट गई। फ़ैक्ट्री के आस-पास रहने वालों ने लम्बा-लम्बा साँस भरकर बदबू महसूस करने की कोशिश की और ताज्जुब ज़ाहिर किया। बिल्डर सुनील घारे ग़श खाकर अपनी कुर्सी से ऐसे गिरा जैसे उसे दिल का दौरा पड़ा हो। सुनील घारे ने हाल ही में कचरा फ़ैक्ट्री से लगा हुआ एक बड़ा-सा प्लॉट ख़रीदा था। कचरा फ़ैक्ट्री शहर का लैंडमार्क बन गई थी और उसके बग़ल में उसका इरादा 'लक्ज़री फ्लैट्स' बनाने का था। इस प्लॉट के लिए उसने क्या-क्या तो पापड़ नहीं बेले थे! ये जगह दरअसल प्लान में बच्चों के खेल के मैदान के लिए आरक्षित थी लेकिन राज्य के मुख्यमन्त्री किसी अच्छे 'ऑफर' के ऐवज़ में इसका 'यूज़' बदलने को तैयार थे। असेंबली के चुनाव सर पर थे और सुनील घारे का ऑफर 'अच्छा' था। और जब साहेब मंज़ूरी दे दें तो टी.एम.सी., लैंड डिपार्टमेंट, कलक्टर...ग़रज़ कि जो-जो इसमें कुछ कर सकता था सहयोग कैसे न करता! इस तरह करोड़ों सर्फ़ करने के बाद सुनील घारे बस भूमि-पूजन करके बुकिंग शुरू करने ही वाला था कि ये ख़बर

आ गई तो लाज़मी था कि ये 'बदबू' उसे हार्ट अटैक देती! बदबू-दार जगह में कौन रहना चाहेगा!

"चललादोरई साब! आज का पेपर देखा क्या?" नीला शेट्टी ने टी.एम.सी. कमिश्नर को फ़ोन किया।

"मैं तो ताज्जुब में पड़ गया, क्योंकि आप तो उसकी तारीफ़.करते नहीं थकती थीं।

"अ र र र रे ...। लेकिन तब मुझे प्रोजेक्ट के पीछे की रियलिटी मालूम नहीं थी न!"

" यु सी...गार्बेज ट्रीटमेंट बहुत स्पेशलाइज़्ड जॉब है। कुछ अमेरिकन कम्पनियों ने इसे ईजाद किया है, पेटेंट किया है। इसके लिए इंटरनेशनल लेवल का साइंटिफिक दिमाग़ चाहिए। ये अपने देसी देहातियों के बस का काम नहीं है। ये तो कचरे में पैदा होते हैं, कचरे में जीते हैं और कचरे में ही मर जाते हैं..." चललादोरई आई.ए.एस. ने अपनी 'चास्ट' लंदन इंग्लिश में समझाया।

तय ये हुआ कि अख़बार की रिपोर्ट की बिना पर शर्मा को मीटिंग के लिए बुलाया जाए और अगर ज़रूरत समझी जाए तो एक इन्क्वायरी समिति बैठा दी जाए।

फ़ोन रखने के बाद चललादोरई ने दो काम किए। एक जेम्स विलियम्सन-जिसका ऑफर लेटर उसके पास आया पड़ा था– के लिए अपने पी.ए. को 'मेल' डिक्टेट किया जिसमें लिखा कि वह फ़ौरन अपना नुमाइंदा मुलाक़ात के लिए भेजे और दूसरा आर्डर दिया कि शर्मा को मीटिंग के लिए फ़ौरन तलब किया जाए।

मीटिंग, जैसा कि होना था– औपचारिकता थी। चललादोरई ने कचरा इकट्ठा और डिस्पोज़ करने वाले पर्यावरण सम्बन्धी सभी वरिष्ठ अधिकारियों को मीटिंग में बुलाया और बदबू के विषय में उनसे अपने-अपने विचार व्यक्त करने को कहा। आखिर साहेब के मातहत होते किस लिए हैं! अधिकारी साहेब का मन समझते थे। बीच-बीच में हालाँकि चललादोरई कभी-कभी शर्मा की तरफ़दारी कर देता था, लेकिन बस उतना ही। नीला शेट्टी जब पहुँची तब मीटिंग समाप्ति पर थी। मौजूद अफ़सरों ने नीला को मीटिंग में क्या हुआ वो समझाया और फिर सब ने मिलकर तय किया कि मामला 'इंवेस्टिगेट' करने के लिए एक कमिटी गठित की जाए जो जब तक अपनी रिपोर्ट न दे दे फ़ैक्ट्री में काम बन्द कर दिया जाए।

"व्हाई...व्हाई...व्हाई...?" चललादोरई कुर्सी में जैसे अपनी नींद से चौंका। "नो नो...काम बन्द नहीं कर सकते। तुम जानते हो कितना कचरा शहर की सड़कों पर जमा हो जाएगा! ...क्या बात करते हो!...टी.एम.सी. का नाम ख़राब हो जाएगा। मै अभी अभी आया हूँ और मै अपना नाम ख़राब नहीं होने देना चाहता।"

एक मिनट की ख़ामोशी रही और बात सब की समझ में आ गई। अधिकारियों के सर 'यू आर राइट सर' में हिले और फिर तीन फ़ैसले लिए गए। एक कि फ़ैक्ट्री फिलहाल जैसी चल रही है वैसे ही चलने दी जाए। दूसरा कि इन्क्वायरी कमिटी फ़ौरन बना दी जाए जो कि अपना काम दूसरे दिन से ही शुरू कर दे और तीसरा कि शहर का कचरा 'डिस्पोज़' करने के लिए दूसरे विकल्प ढूँढ़े जाएँ ताकि जब फ़ैक्ट्री बन्द हो जाए तब भी शहर को साफ़ रखा जा सके।

दूसरे दिन कमिटी मेंबर्स सुबह-सुबह ही कचरा फ़ैक्ट्री पहुँच गए। उनको बदबू की उम्मीद थी लेकिन जब वे पहुँचे तो बदबू इधर-उधर सूँघने के बावजूद उन्हें महसूस नहीं हुई। कमिटीवालों ने एक-दूसरे की तरफ़ देखा और समझ गए कि कमिटी का मक़सद क्या है। उनसे बहरहाल ईमानदारी, मुस्तैदी और निष्पक्षता से काम करने को कहा गया था सो उन्होंने 'असहनीय बदबू' अपनी रिपोर्ट में दर्ज कर लिया।

उसी दिन शाम को चललादोरई के लिए– जेम्स का टेक्सास से फ़ोन आया।उसके पास जब मेल भेजा गया था तब उसके लिए रात थी और तब वह नींद में था, अब जागा था। जेम्स ने कहा कि वह चललादोरई को अपना 'कोटेशन' और 'एग्रीमेंट-फॉर्म' फ़ौरन भेज रहा है और अपने भारतीय 'कॉन्टैक्ट' को कमिश्नर से मुलाक़ात के लिए भेजने का भी तय कर रहा है।

"ठाणे बहुत बड़ा डिस्ट्रिक्ट है जेम्स। कॉन्ट्रैक्ट कुछ नहीं तो मिलियन डॉलर का हो सकता है। और आप जानते ही हैं कि मेरे पास और भी 'कॉम्पिटिटिव-कोट्स' हैं।" चललादोरई ने जेम्स को ललचाने की कोशिश की।

"बेफ़िक्र रहिए! मैं अपनी मशीन भी जनता हूँ और पैसे की अहमियत भी।"

"गुड!"

"हडसन- मेरा एजेंट - बम्बई में ही रहता है और वो कल ही सुबह नौ बजे आप के दफ़्तर में आपसे मिलने आएगा।"

"मैं रहूँगा।"

हडसन साठ की उम्र के आस-पास का अँगरेज़ था जिसने पर्यावरण के

क्षेत्र में काफी काम किया था और तजुर्बा और ज्ञान हासिल किया था। पहली बार वह एक एन.जी.ओ. के लिए कंसलटेंट बनकर भारत आया था और उसे इस देश ने वो प्यार और रुतवा दिया कि वह अपनी वापसी लगातार मुल्तवी करता रहा। हडसन मूल रूप से लिवरपूल का था लेकिन वहाँ उसकी पत्नी की मृत्यु हो चुकी थी और उसकी इकलौती बेटी को उसकी शक्ल देखना तक नागवार था, सो वह अलग कहीं दूर रहती थी। इन हालात में हडसन को कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता था कि वह कहाँ रहे...या कहीं भी रहे! और भारत उसे बहुत 'पसन्द' था। एक बात और भी थी और वो ये कि हडसन हद दर्जा साफ़-गो था और तबियत से बेतरह ईमानदार-जिसके कारण उसके दोस्त कम थे और वह कभी किसी भी तरह 'सफल' नहीं हो सका। कोई कम्पनी उसे अपने यहाँ रखना नहीं चाहती थी। इस सबके चलते हडसन कहीं भी रहे क्या फ़र्क़ पड़ता था! और भारत तो वैसे ही गोरा-पूजक देश है। यहाँ के लोगों ने उसे खुले दिल से स्वीकार किया। सरकारी बाबू/अफ़सरशाही भले ही उसकी ईमानदार सोच के कारण उसे पसन्द न करते हों, एन.जी.ओ. उसे हाथोंहाथ लेते थे। जब जेम्स विलियम्सन को अपने लिए भारत में एक 'लिएज़ॉ-पर्सन' चाहिए था तो उसने गूगल किया और सर्च में जो नाम सबसे पहले आया वह हडसन का था। हडसन के लिए काफी बड़े-बड़े एन.जी.ओज. ने तारीफ़ लिखी थी। जेम्स को ऐसे ही शख़्स की तो तलाश थी।

हडसन बम्बई में वर्ली सी फेस पर तीन मंज़िला इमारत में दूसरे फ्लोर पर रहता था। सुबह के वक़्त उसके फ्लैट से ठाणा का सफर टैक्सी में मुश्किल से पैंतालीस मिनट का था। हडसन, तयशुदा वक़्त, नौ बजे जब कमिश्नर ऑफिस पहुँचा तब वहाँ झाड़ू लग रही थी और 'साहेब' 'आने ही वाले' थे। चललादोरई साढ़े दस बजे पहुँचा, मीटिंग के लिए देर से आने के लिए बग़ैर किसी 'अपोलोजी' के वह सीधा मुद्दे पर आ गया। उसने हडसन को फ़ैक्ट्री के एग्रीमेंट, लोकेशन, उसके प्लॉट का क्षेत्रफल, कचरे के ट्रीटमेंट की पद्धति, अख़बार की रिपोर्ट इत्यादि सबके बारे में तफ़सील से समझाया और जेम्स की मशीनरी की मदद से कचरे का डिस्पोज़ल किस तरह बेहतर और ग़ैर-बदबूदार तरीके से हो सकता है– की बारीकियों को भी डिसकस किया। हडसन ने कहा कि वह सबसे पहले मौजूदा फ़ैक्ट्री की 'साइट' पर जाकर चीज़ों का जायज़ा लेना चाहता है। तय हुआ कि आने वाली सुबह वह इन्क्वायरी कमिटीवालों के साथ फ़ैक्ट्री का चक्कर लगाए। इस बात के दो फ़ायदे थे– एक तो ख़ैर यह

था ही कि हडसन फ़ैक्ट्री देख आएगा लेकिन जो दूसरी अहम् और अनकही वजह थी वो यह कि इन्क्वायरी समिति अपनी रिपोर्ट में लिख सकेगी कि उसने अपनी रिपोर्ट में एक अंतरराष्ट्रीय पर्यावरण एक्सपर्ट की राय भी शामिल की है। मीटिंग जब समाप्त हुई और चललादोरई और हडसन ने बाई-बाई में हाथ मिलाया, चललादोरई बोला, "मिस्टर हडसन! इन्क्वायरी समिति पब्लिक की बहुत शिकायतों के बाद गठित की गई है और उस समिति में बहुत जाने-माने क़ाबिल लोग हैं। हालाँकि मेरे पास और भी 'कोट्स' हैं लेकिन मुझे आपकी मशीनरी की रिपोर्ट्स काफी अच्छी लगी है इसलिए यदि आप में और समिति में तालमेल बैठ जाए और अगर वे आपकी टेक्नोलॉजी रिकमेंड कर दें तो मुझे ख़ुशी होगी...आप समझ रहे हैं न मैं क्या कह रहा हूँ!?"

"ऑफ़ कोर्स कमिश्नर! मैं अपनी तरफ़ से पूरी कोशिश करुँगा।" हडसन चलने को हुआ।

"और मिस्टर हडसन!"

हडसन मुड़ा, "यस!"

चललादोरई का इरादा हुआ कि वो हडसन को शाम को 'ड्रिंक्स' के लिए मदऊ करे लेकिन फिर ये सोचकर कि इसके लिए अभी जल्दी है उसने इरादा छोड़ दिया। बोला, "नईं नईं...। ठीक है...। आप कल फ़ैक्ट्री विज़िट कर लीजिए फिर मिलते हैं।"

दूसरे दिन इन्क्वारी कमिटी ने हडसन को शर्मा से मिलवाया, अख़बार की ख़बरें दिखाईं, बदबू के कारण 'बीमार' पड़ गए आस-पास के दो-तीन रहिवासियों से मिलवाया और अपने दो दिनों की 'छान-बीन' का ब्यौरा दिया। उसके बाद हडसन को फ़ैक्ट्री के दौरे पर ले जाया गया। उसे एक निश्चित दूरी पर 'डम्प' किए गए बड़े-बड़े कचरे के ढेर दिखाए गए। हडसन ने बदबू सूँघने की कोशिश की। फिर उसने कचरे के बहुत क़रीब जाकर जैसे नाक ही तो अड़ा दी और फिर एक लम्बा साँस लेकर समितिवालों की तरफ़ मुड़कर पूछा, "बदबू कहाँ है?...यहाँ का वातावरण तो एकदम साफ़ है।" समितिवालों और बदबू से 'बीमार' पड़ चुके लोगों ने बेहद ऐतराज़ जताया। हडसन ने शर्मा की तरफ़ मुड़कर पूछा, "क्या जादू करते हैं आप मिस्टर शर्मा! मैंने ज़िन्दगी में कचरे के इतने बड़े-बड़े ऐसे ढेर नहीं देखे जो बदबू न मारते हों।"

इन्क्वायरी समितिवाले और 'बीमार' रहिवासी बग़लें झाँकने लगे। शर्मा हडसन को बदबू दूर करने के लिए कचरे पर अपने प्राचीन विद्या से निकाले गए छिड़काव के बारे में समझाने लगा। हडसन इस फॉर्मूले को जानने की ज़िद करने लगा।

कमिटी मेम्बरों ने कमिश्नर को ख़बर दी। कमिशनर ने नीला शेट्टी को फ़ोन किया। शेट्टी ने फ़ौरन प्रेस कॉन्फ्रेन्स बुलाई। कॉन्फ्रेन्स में पत्रकारों को बताया गया कि पर्यावरण के अन्तरराष्ट्रीय एक्स्पर्ट ने भी कचरा फ़ैक्ट्री से उठती बदबू महसूस की है जो उसके हिसाब से भी आस-पास के लोगों के स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। प्रेस वालों को इन्क्वायरी समिति के साथ खड़े हुए हडसन की तस्वीरें वितरित की गईं और उसके बाद गर्मी के मद्देनज़र पहले उन्हें 'चिल्ड बियर' और कबाब सर्वे किए गए और फिर उनके लिए ऐअरकण्डीशनड हॉल में लंच सर्व किया गया। यह सारा इंतज़ाम पास के एक बैंक्वेट हॉल में किया गया था जिसका ज़िम्मा और ख़र्च बिल्डर सुनील घारे ने उठाया था। जिस समय ये कांफ्रेंस हो रही थी हडसन, शर्मा और समिति मेम्बर्स कचरा फ़ैक्ट्री में 'राइस प्लेट'(खाने की थाली) खा रहे थे।

दोपहर को हडसन चललादोरई के दफ़्तर गया।

"मेरा ख़्याल है आपको भी फ़ैक्ट्री नागवार गुज़री।" कमिशनर ने टोह ली।

"बिल्कुल इसके उलट कमिश्नर! वो शर्मा शख़्स बहुत अक़्लमन्द आदमी है। वह बहुत खूबी से इस प्रोजेक्ट को चला रहा है और किन बेहूदा लोगों ने आपसे बदबू उड़ने की शिकायत कर दी? वहाँ तो कोई बदबू नहीं है। इट्स प्योर ऑक्सीजन देयर!"

"आप उन लोगों से नहीं मिले जो बदबू की वजह से बीमार पड़ गए थे?" चललादोरई ने काग़ज़ समेटते हुए हाथ रोके और भौं सिकोड़कर पूछा।

"हाँ, आए थे दो-तीन लोग जो ऐसा कहते थे लेकिन वे मुझे आस-पास के कुछ दादा-टाइप लोग लगे जिनका मुझे नहीं लगता कि विश्वास किया जा सकता है।"

"तो आपका कहना क्या है?"

"मेरा ख़्याल है कि अगर आप हमारी मशीन लेना चाहते हैं तो बेशक लीजिए। मैं यहाँ आपके पास इसीलिए आया हूँ। लेकिन अगर मैं आपकी जगह होता तो मैं जो चल रहा है वही चलने देता, क्योंकि 'ए' ये बहुत किफ़ायती विकल्प है, 'बी' इसे बहुत कम कामगारों के साथ बहुत अच्छी तरह मैनेज किया जा रहा है और 'सी' ये आपके शहर को बग़ैर किसी महँगे ख़र्च के साफ़ रखे हुए है।"

कमिश्नर ये सुनने के लिए तैयार नहीं था लेकिन वो सुनता रहा। उसने केवल इतना कहा कि वह हडसन को फ़ोन करेगा। हडसन चला गया। अखबार जो बदबू की ख़बरें छापते वे 'लोकल' और मराठी में होतीं जो कि हडसन पढ़ना तो छोड़िए देख भी नहीं पाता। 'राष्ट्रीय' कहलाए जाने वाले अँग्रेजी अख़बारों के लिए यह एक 'उपनगरीय' और 'छोटी-सी' ख़बर थी जिसका उन्होंने 'नेशनल' पाठक के लिए छापने का कोई औचित्य नहीं समझा।

बीच रात में एक फ़ोन ने हडसन की नींद तोड़ी।

"हाय हडसन! जेम्स! जेम्स विलियम्सन टेक्सास से।"

"ओह हाय जेम्स!"

"हडसन आप हमारा प्रोजेक्ट बेचने के लिए रखे गए हैं न कि हमारे ख़िलाफ काम करने के लिए।

"मैं समझा नहीं।"

"वेल! कमिश्नर अगर सुनना चाहता है कि फ़ैक्ट्री से बदबू उठ रही है और इसी कारण वह हमारी मशीनें ख़रीदना चाहता है तो जो वो सुनना चाहता है तुम्हें वह कहने में प्रॉब्लम क्या है? आखिर हमें कॉन्ट्रैक्ट चाहिए और उसके लिए अगर यही रास्ता है तो यही रास्ता सही।"

हडसन की नींद उड़ चुकी थी। उसने सीटी बजाने की शक्ल में होंठ सिकोड़े, अन्दर हवा खींची, अपने बाएँ हाथ से ज़रा गर्दन सहलाकर अपने को सँभाला और कहा, "देखो जेम्स! मैं पर्यावरण का एक्स्पर्ट हूँ और पर्यावरण इस दुनिया की सारी जड़ और चेतन चीज़ों का सम्मिलित स्वरूप है और उसके साथ इसलिए ग़द्दारी नहीं की जा सकती कि दो-एक लोग अपना स्वार्थ साधना चाहते हैं। जो प्राकृतिक तौर पर सही है, सामाजिक तौर पर सही है, आर्थिक तौर से सही है उसे सही मानना ही पड़ेगा!"

"डोंट गिव मी बुल शिट हडसन! तुम जिसे जानते ही नहीं उसके प्रति तुम जवाबदार कैसे हो सकते हो? और पैसे की तो तुम्हें भी ज़रूरत है!"

"सवाल जानने और न जानने का नहीं है जेम्स। अगर मुझे लोग एक्स्पर्ट मानते हैं तो मेरी ज़िम्मेदारी है कि मैं सही और निष्पक्ष होऊँ। और रही पैसे की बात तो मुझे आज भी अपनी बियर और 'स्टेक' के लिए ठीक-ठाक मिल जाता है।"

"देखो या तो तुम वो करो जो मैं कह रहा हूँ...या मेरी लाइफ से दफ़ा हो जाओ। आखिरी मौक़ा देता हूँ...कल तुम कमिशनर के पास जाकर वो कहो और करो जो कि वो चाहता है। समझे!"

"जेम्स! यहाँ रात के एक बज चुके हैं। 'कल' तो शुरू ही हो गया है और मैं कहीं नहीं जा रहा...ठीक है!...गुड नाईट जेम्स!" हडसन ने फ़ोन पटक दिया। जेम्स ने उधर भद्दी-सी गाली बकी और इस सोच में पड़ गया कि इस आखिरी वक़्त पर वो अपने काम के लिए किसे और कैसे ढूंढ़े। हडसन वापस लेटकर सोने की कोशिश करने लगा।

बदबू उठने की ख़बर तूल पकड़ती गई। कमिटीवालों ने भी अपनी रिपोर्ट में बदबू और उससे पैदा हुई बीमारियों का ज़िक्र ज़ोर-शोर से किया। जेम्स ने चललादोरई को फ़ोन किए। नीला शेट्टी ने सुनील घारे को अपना हिमायती बना लिया। कमिश्नर ने शर्मा को अपने ऑफिस में बुलाया।

"शर्मा! आखिरी मौक़ा देता हूँ...। तुम चाहो तो अब भी फ़ैक्ट्री चला सकते हो। करना तुम्हें बस इतना है कि अपनी ये दक़ियानूस मशीनें हटाकर इस अमेरिकन कम्पनी की मशीनें लगा दो। नीला शेट्टी भी साथ देने को तैयार हैं और इन मशीनों के साथ ये बदबू का इशू भी समाप्त हो जाएगा।"

"लेकिन हम सब जानते हैं कि बदबू तो वहाँ है ही नहीं। बेवजह इसका इशू बनाया जा रहा है। और जब आप जानते हैं कि सब ठीक-ठाक है तो फिर आप देश की इतनी विदेशी मुद्रा क्यों बर्बाद करना चाहते हैं?"

"प्रॉब्लम है शर्मा", चललादोरई मेज़ पर मुट्ठी पटककर 'है' पर ज़ोर देकर चिल्लाया, "प्रॉब्लम है...और लोग परेशान हैं। तुम्हारी नाक अगर बदबू नहीं सूँघ सकती और अगर तुम बीमार नहीं पड़ते तो अपने-आपको किसी डॉक्टर को दिखाओ!...एंड डोंट..." चललादोरई ने अपने काँपते हाथ की थरथराती हुई अनामिका दिखाकर गुस्से में कहा, "डोंट टीच मी– मुझे क्या ख़र्च करना चाहिए और क्या नहीं। मैं सरकार द्वारा नियुक्त किया गया कमिश्नर हूँ और मैं जानता हूँ मेरी पब्लिक के लिए क्या ठीक है और क्या नहीं।"

"मिस्टर चललादोरई!" शर्मा ने गला साफ़ करते हुए कहा, "आप सब लोग भ्रष्ट आचरण में लगे हुए हैं। नीला शेट्टी को पाँच लाख भारतीय रुपये चाहिए, आप यू.एस. डॉलर्स में अपना कट देख रहे हैं। बिल्डर सुनील घारे इसमें लगा है कि वह अपने फ्लैट्स की कीमत कैसे बढ़ा दे...। यह सब कुछ शहर की जनता के हित के ख़िलाफ है। मैं ईमानदार हूँ और ईमानदारी नहीं छोड़ूँगा। मैं आपकी गन्दी चालों में आने वाला नहीं हूँ।"

"गेट आउट!" चललादोरई अपनी कुर्सी पीछे धकेलकर पूरी ताक़त से

चिंघाड़ा। ऐसे कि कॅबिन के बाहर बैठा उसका चपरासी अपनी तम्बाकू रगड़ना छोड़कर दौड़ा दौड़ा अन्दर आ गया। शर्मा कॅबिन के बाहर निकल गया।

नीला शेट्टी जल्दी में थी। पैसा तो हालाँकि उसे बिल्डर सुनील घारे से मिल रहा था लेकिन नीला ने अपने चुनाव क्षेत्र के लिए कुछ किया नहीं था इसलिए उसके जीतने के आसार कम थे। ख़ासतौर से इस बार जब एक पढ़ा लिखा जन-प्रिय नौजवान उनके सामने प्रत्याशी था। वह नीला को मात दे सकता था। लेकिन इलेक्शन किसी भी प्रजातन्त्र में वे जीतते हैं जो लोगों की भावनाओं को उद्वेलित कर देते हैं। चुनाव में अभी तीन सप्ताह थे। नीला शेट्टी ने 'बदबू' के मुद्दे पर फ़ैक्ट्री से लगाकर टी.एम.सी. दफ़्तर तक एक ज़बरदस्त जुलूस निकाला। रास्ते-भर लोग नारे लगाते रहे–'तुम जागो स्वच्छ हवा में, हम मरते हैं बदबू में।'

अख़बारों में हेड लाइन छपी- 'कचरा फ़ैक्ट्री की बदबू के ख़िलाफ जन-आक्रोश!' और इस बार मामला ऐसा बना कि यह केवल लोकल ख़बर तक ही सीमित नहीं रहा। अँग्रेज़ी अख़बारों को भी ख़बर छापनी पड़ी और टी.वी. पर भी मोर्चा दिखाया गया। और टी.वी. की चौबीस घंटा ख़बरिया चैनलों की तो तासीर ही है कि वे छोटी-से-छोटी ख़बर के क्लिप को बार-बार लगातार हर आधे-आधे घंटे पर दिखाते रहते हैं। शहर के मतदाताओं का रुझान नीला शेट्टी की तरफ़ हो गया। सुनील घारे 'हालात का मारा', 'बेचारा' क़रार दे दिया गया। ख़बर ऐसी फैली कि दिल्ली के 'पावर-गलियारों' तक पहुँच गई। वहाँ से कमिश्नर ऑफ़िस में फ़ोन आया।

"सारा मामला संज्ञान में लिया है सर!" चललादोरई ने फ़ौरन कुर्सी से खड़े होकर बड़े अदब से समझाया, "बदबू हटाने के लिए एक अमेरिकन कम्पनी से भी बात चल रही है...एक्स्पर्ट समिति ने कहा है कि उनकी मशीनें लगाने से सब ठीक हो जाएगा।"

"इस मामले की बाबत फाइलें आप यहाँ भेज दें। मन्त्री जी मामले का जायज़ा लेना चाहते हैं। और तब तक इस पर सारी कार्यवाही रोक दें।" मन्त्री के स्पेशल पी.ए. ने ठंडी आवाज़ में कहा।

एक ब्यूरोक्रेट ने जिस बात को अपने लिए 'अपॉरचुनिटी' में तब्दील किया था वही अब मन्त्री जी के लिए सोने का अंडा देने वाली मुर्ग़ी में ढल गई। सरकार का कार्यकाल अभी अगले दो साल और था। दो साल में तो पब्लिक क्या-क्या भूल जाती है और क्या-क्या तो किया जा सकता है! जेम्स क्या उस

जैसी दुनिया में तमाम एजेंसियाँ होंगी जिनसे 'बात' की जा सकती है! 'डॉलरों' की ही तो बात है...वो चाहे पश्चिम से आएँ या पूर्व से!

"एक बात और", पी.ए. ने आगे कहा, "कचरा फ़ैक्ट्री का काम फ़ौरन बन्द करने के आदेश पारित कीजिए। और जब तक मन्त्री जी निर्णय न ले लें स्टेटस को बनाए रखिए।"

"लेकिन तब तो शहर में कचरा सड़ेगा...मुश्किल हो जाएगी," चललादोरई ने सर पर हाथ मारा और दुखी होकर कहा।

"आप कमिश्नर हैं...आप इस समस्या का कोई-न-कोई समाधान निकाल सकते हैं। आफ्टर-ऑल! ठाणा-बम्बई है क्या-कचरे का अम्बार ही तो है! लाइन कट गई।

चललादोरई ने कोहनियाँ मेज़ पर टिकाकर सर अपनी उँगलियों से सँभाला, दस-पन्द्रह अच्छी ख़ासी गालियाँ बकीं- मन्त्री को, नीला को और अपने भाग्य को। फिर उसने चपरासी बुलाने के लिए घंटी बजाई और अपने जूनियर कमिश्नरों और चीफ़ इंजीनियरों की मीटिंग बुलाने का फ़रमान दिया। सवाल था कि कचरे का अब क्या किया जाए।

"घोडबंदर सर!" सॉलिड वेस्ट मैनेजमेंट डिपार्टमेंट के इंचार्ज ने सुझाया।

"घोडबंदर क्या?" चललादोरई ने चश्मा नाक के नीचे करके पूछा।

"आप फ़िक्र न कीजिए शहर के सारे कचरे का डिस्पोज़ल हो जाएगा।"

"क्या मतलब?"

"घोडबंदर क्रीक है न सर।"

"वहाँ कहाँ?"

"क्रीक के तीनों तरफ़ इतने बड़े एरिया में मैनग्रोव्स फैले हैं कि अगर शहर का सारा कचरा दस साल तक भी वहाँ डंप करते रहो तो भी जगह बचेगी।

"कोई कमबख़्त पर्यावरण वाला आड़े आ गया तो?"

"कौन आएगा?...सब तो अपना ही खाते हैं।"

"घोडबंदर क्रीक इज़ ए गुड आईडिया सर!" गार्बेज वैन्स और ट्रेलर वाले इंचार्ज असिस्टंट कमिशनर ने कहा।

फैसला ले लिया गया।

चललादोरई की समझ में जो नहीं आया वो यह कि कचरा भरने वाले हर ट्रक/ट्रेलर की बिलिंग होती है और कौन-सा ट्रक/ट्रेलर कितनी बार डिलीवरी कर सकता है इसकी कोई पाबन्दी नहीं होती- यानी एक ट्रक की दिन में दस

बार भी बिलिंग दिखाई जाए तो भी कोई पूछने वाला नहीं है। सुझाव की जो दूसरी वजह थी वो यह की ठाणा में तमाम नई-नई कॉलोनी बन रही थीं और बिल्डरों को 'भरती' (फिलिंग) चाहिए थी और उसके लिए ये कचरा उन्हें मिट्टी से कई गुना सस्ता पड़ेगा और वे इसे हँसी-खुशी ख़रीद लेंगे और इस ख़रीद का पैसा सरकारी खाते में नहीं, टी.एम.सी. अफसरों की जेब में जाएगा। इन दोनों ही बातों से छककर पैसे की कमाई हो सकेगी और स्टाफ़ में आपस में बाँटने के बाद भी हर एक के हिस्से में लाखों बैठेंगे!

शहर में जब इलेक्शन के नतीजे आए तो नीला शेट्टी लम्बे अन्तर से विजयी हुई। चललादोरई को बड़ी बेआबरू तौर से ग्रामीण क्षेत्र विभाग में स्थानांतरित कर दिया गया। सुनील घारे ने अपने लक्ज़री फ्लैट्स की बुकिंग अपने सोचे हुए रेट से तीन गुना बढ़ा कर शुरू की। टी.एम.सी. के जॉइंट कमिश्नरों और चीफ इंजीनियरों ने नई-नई कारें ख़रीद लीं। शर्मा ने फैसले को अदालत में चुनौती देना चाहा लेकिन कोई ढंग का वकील उसका केस लेने को तैयार नहीं हुआ–'तुम्हारा केस कमज़ोर है...। इसमें तुम्हारे फेवर में तो कोई सुबूत है ही नहीं!'

नीला शेट्टी पिछली अक्षय तृतीया को सुनील घारे द्वारा 'गिफ्ट' किए हुए डुप्लेक्स पेन्ट हाउस में शिफ्ट कर गई।

कचरा फ़ैक्ट्री वाली जगह बर्बाद पड़ी है। अब वहाँ झोपड़ियाँ निकल आई हैं और उसके बजबजाते मलबे और कीचड़ में सूअर बहुत पैदा हो गए हैं।

साइबरेटी

कम्प्यूटर पर काम करते-करते पीठ सीधी करके हाथ ऊपर उठाकर उसने अँगड़ाई ली। रात के दो बज चुके थे और वह काम ख़त्म कर के लेटने की सोच ही रहा था कि कम्प्यूटर स्क्रीन पर एक ख़ूबसूरत लड़की की तस्वीर आई और उसने अपनी सारी सेन्सुअलिटी उँड़ेलते हुए मुस्कुरा कर पूछा, "टायर्ड?" हेनरी का अँगड़ाई लेना बीच में ही रुक गया, हाथ हवा में लटके रह गए और मुँह खुला रह गया। इंटरनेट पर काम करते-करते अलग-अलग साइट्स खुल जाते हैं, पोर्न साइट्स भी आ जाते हैं लेकिन एक लाइव, मुजस्सिम लड़की और वो भी ऐसे सवाल कर रही है जैसे वो हेनरी के काम को, थकान को बाक़ायदा देख रही है। उसे बेतरह ताज्जुब हुआ। लड़की बेहद ख़ूबसूरत, शाइस्ता और सेंसुअल थी। एक मिनट के लिए हेनरी जहाँ था वहीं थम गया।

"हाँ...थोड़ा-सा!" हेनरी ने जैसे होश में आकर जवाब दिया।

"चैट करोगे?"

"दरअसल अब मैं सोना चाहता हूँ।"

"मेरे साथ!...हं हं हं हं..." और वो बेसाख़्ता हँसने लगी।

"उसके लिए मैं काफ़ी थक गया हूँ...लेकिन हाँ अगर मैं इतना थका न होता तो शायद...।"

"तब तुम्हारा कारण क्या होता?"

"हर बात का कारण तो नहीं होता न...ज़्यादातर बातें मन की होती हैं... बेवजह... अकारण... सिर्फ इसलिए की जी किया...बस!"

"ये भी तो एक कारण है...।"

"अच्छा, देखो अब मैं सोने जा रहा हूँ...फिर कभी बात करेंगे...बाई!"

हेनरी ने कम्प्यूटर ऑफ कर दिया और फिर जैसे एकदम ख़ाली होकर अपनी आधी रोकी हुई अँगड़ाई पूरी की, कुर्सी में पीछे टिककर मेज़ पर रखी बोतल से एक घूँट पानी का गटका और उँगलियों से मेज़ पर एक बार तबला-सा बजाकर उठा और खिड़की के पास आ गया। खिड़की क्या थी पूरी-की-

पूरी लम्बी ऊँची शीशे की दीवार थी जहाँ से दूर सोते हुए न्यू यॉर्क शहर की जगमगाती रोशनी और एक-आध कभी-कभी गुज़रती कार की लाइट नज़र आ रही थी। हेनरी लौटकर बिस्तर की ओर जाने लगा कि टेलीफोन की घंटी बजी।

"यस!"

"क्या कर रहे हो?" रिचर्ड था।

"बेस बॉल खेल रहा हूँ!...अरे इस समय कोई क्या करता है यार!"

"गुड...! तो अपना बैट उठाओ और आ जाओ...। हमारा पिच तैयार हो रहा है।"

"आर यू मैड?"

"इन ए वे ...! हम लोग पार्टी कर रहे हैं और चाहते हैं कि तुम यहाँ आ जाओ। सक्सेना टैक्सस से आया है और उसकी बीवी उस पर दया करके इंडिया अपने गाँव भाग गई है। हम सब अकेले हैं और चाहते हैं कि सब अकेले मिलकर एक-दूसरे के कन्धे पर सर रखकर ख़ुशी का इज़हार कर सकें!"

बहुत इधर-उधर की बातें हुईं। बड़ी ना-नुकर हुई लेकिन हेनरी को जाना पड़ा। जब वो रिचर्ड के घर पहुँचा तब रात के तीन बज चुके थे। दूसरे दिन शनिवार था इसलिए किसी को कोई परवाह नहीं थी।

रिचर्ड, शेख़, सक्सेना और हेनरी चारों की दोस्ती बड़ी पक्की और दस साल पुरानी थी। तब से जब शेख़, सक्सेना और रिचर्ड मोक्रोसॉफ्ट में काम करते थे और हेनरी के पड़ोसी थे। तब चारों शादीशुदा थे और इनकी बीवियों की आपस में अच्छी जान-पहचान थी। इन्हीं बीवियों ने अपने-अपने पतियों की मुलाक़ातें भी करवाईं थीं और फिर जान-पहचान दोस्ती में बदल गई थी। हेनरी टेक्निकल डिज़ाइनर था और बड़ी-बड़ी कम्पनियों में डिज़ाइन कंसल्टेंट था। फिर समय कुछ बदला और नए-नए लोग बड़ी-बड़ी कम्पनियों में बड़े-बड़े ओहदों पर छा गए और वे अपने-अपने डिज़ाइन कंसल्टेंट्स/एक्सपर्ट्स ले आए। हेनरी क़ा काम कम होने लगा। सब जगह सबको 'नौजवान' चाहिए थे। सोच ये थी कि नौजवान ज़्यादा 'आज' के हिसाब से सोचते हैं। इन 'नौजवानों' की उम्र बीस से पच्चीस होती थी और इन्हें बड़ी-बड़ी तनख्वाहों पर रख लिया जाता था। बड़े-बड़े नामी कॉलेजों से ताज़ा-ताज़ा सीखे/निकले लोग! तजुर्बे का क्या है– काम करते-करते हो जाएगा! हेनरी हालाँकि किसी तौर से बूढ़ा नहीं था, लेकिन पता नहीं या तो उसकी अड़तालीस साल की उम्र और बेइंतिहा तजुर्बा आड़े आ गया या समय बदल गया या दुनिया बदल

गई– उसका काम बेतरह कम हो गया और उसे अपना बड़ा-सा पाँच बैडरूम और स्विमिंग पूलवाला मकान छोड़कर सबर्ब में एक छोटे-से फ्लैट में शिफ्ट होना पड़ा। उसकी बीवी ने समझ लिया कि अब हेनरी क्या तो कमाएगा और क्या खिलाएगा। वो अपनी चार साल की लड़की को लेकर घर छोड़कर चली गई और हेनरी पर जायदाद के हिस्से का मुक़दमा अलग ठोक गई। आजकल हेनरी का समय मुक़दमा लड़ने और एक कार कम्पनी के लिए एक 'मोस्ट एडवांस्ड सिक्योरिटी सिस्टम' डेवेलप करने में जाता है।

शेख़ की बीवी मैक्सिकन थी (या शायद है– ये कहना मुश्किल है) और ज़्यादातर अपने परिवार के साथ मैक्सिको में ही रहना पसन्द करती थी। सक्सेना अब तक शादीशुदा था। दो बड़ी– एक ग्यारह और दूसरी पन्द्रह साल की– लड़कियों को लेकर उसकी बीवी आजकल अपने मायके बिहार के सासाराम गई हुई थी। वो हर साल जाती थी– हर बार महीने-भर के लिए। लड़कियों को 'इंडिया' बिल्कुल पसन्द नहीं है लेकिन इस बार ज़बरदस्ती उन्हें वो ले गई थी।

रिचर्ड की बीवी शुरू से ही बहुत नकचढ़ी थी और दो साल पहले रिचर्ड के एक क़रीबी दोस्त के इश्क़ में पड़कर वो रिचर्ड को छोड़ चुकी थी।

अन्दर-ही-अन्दर सब अकेले थे और एक-दूसरे से मिलने और मौज-मज़े के अवसर ढूँढ़ते रहते थे। ये मिलना बहुत दिनों बाद इस वीकेंड मुमकिन हुआ था।

"द वर्स्ट थिंग दैट हैप्पेंड टु दिस वर्ल्ड इज़ आई. टी." (सबसे बदतर बात जो इस दुनिया में हुई वो है आई.टी.) हेनरी ने अपनी बियर का ख़ाली कैन डस्टबिन में फेंकते हुए कहा।

"अच्छा!" शेख़ भड़का, "साले ई-मेल भेजते समय, एस. एम. एस. करते समय ये ख़्याल नहीं आता! आई. टी. ने लाइफ कितनी सुविधाजनक बना दी है वो कभी क़ुबूल नहीं करोगे...ब्लडी एहसान फ़रामोश!"

"ये जला बैठा है", रिचर्ड ने अपने गिलास में चौथी बार वोदका भरते हुए हेनरी की तरफ़ ऊँगली दिखाकर कहा, "इसने चड्डी ख़रीदी थी और इसके पास कुछ दिनों बाद उसी स्टोर से एक नई ब्रांड की चड्डी का इश्तिहार आ गया– मेल पर भी और फ़ोन पर भी!"

"नथिंग इज़ ब्लडी प्राइवेट एनी मोरे!" हेनरी ने एक नया बियर का कैन खोला।

"देखो भाई हम लोगों ने तो बरसों आई. टी. की कमाई खाई है और खा रहे हैं...बट दिस प्राइवेसी थिंग आई एग्री विथ यू!" सक्सेना अपनी कुर्सी में पसर गया।

"क्या?...व्हाट यू एग्री?" शेख एकदम लड़ने के मूड में आ गया।

"यु नो ...एक बार मैंने और मेरे एक साथी– दोनों ने टाइम्स स्क्वेर से न्यू जेर्सी तक टैक्सी ली। टैक्सी में हम लोगों ने क्या बातें कीं हम लोगों को भी याद नहीं...सब यूँ ही इधर-उधर की ऊल-जलूल ...! शाम को जब मैं घर पहुँचा तो पता चला पुलिस मेरे बारे में पूछती हुई आई थी। मैंने पुलिसवाले को फ़ोन किया...पता चला कि हमारे टैक्सी ड्राइवर ने– जो कि शायद इज़रायली था और अँग्रेजी ठीक से नहीं समझता था– उसने हमारे ख़िलाफ पुलिस में शिकायत की थी।

"क्या शिकायत?" शेख़ ने पूछा।

"ये की हम दो लोग– जिसमें मैं पाकिस्तानी बताया गया था– टैक्सी में कहीं बम धमाका करने की योजना बना रहे थे!"

"देखा...मैं क्या कहता था!" हेनरी ने सर हिलाकर कहा।

"सक्सेना! तुम बम-धमाके करोगे, मुझे तुमसे ऐसी उम्मीद नहीं थी!" शेख़ ने मज़ा लिया।"

"शट अप! मैंने ऐसा कुछ नहीं कहा..."

"तो फिर! टैक्सी ड्राइवर को ख़्वाब आया?"

"बम तो किसी भी भाषा में बम होता है यार!"

"शेख़ मज़ाक छोड़ो यार...उसे सच बताने दो।" रिचर्ड ने बात पकड़ी।

"बात ये थी", सक्सेना ने कहा, "कि उस दिन कहीं बम धमाका हुआ था और हम लोग शायद ये डिसकस कर रहे थे कि आखिर लोग बम क्यों फोड़ते हैं, लोगों को क्यों मारते हैं।"

"तो पुलिस तुम्हारे घर कैसे पहुँच गई?"

"क्या बच्चों जैसी बातें करते हो यार! क्रेडिट कार्ड से टैक्सी का पेमेंट करोगे तो तुम्हारे घर क्या पुलिस तो तुम्हारे दादा-परदादा के घर भी पहुँच जाएगी!"

"सी...दिस इस व्हाट आई मीन, " हेनरी ने पिज़्ज़ा का हिस्सा चबाते हुए कहा, "आई टी इज़ द वर्स्ट थिंग!"

"ये बात तो है कि प्राइवेसी ख़त्म हो गई है", शेख़ ने अपना ख़ाली गिलास

भरने के लिए उठते हुए कहा, "लेकिन आई. टी. के जो अड्वांटेजेस हैं उनके मुक़ाबले ये इतनी बड़ी बात नहीं है।"

"हे! होल्ड ओन! दिस इस सीरियस!...सक्सेना! पुलिस तुम्हारे पीछे अब भी है?"

"आई डोन्ट नो! दो-तीन बार उनसे मुलाक़ात के बाद शायद पुलिस की समझ में आ गया होगा कि ये ग़लत रिपोर्ट है क्योंकि वो चुप बैठ गई है। लेकिन परेशानी तो मुझे हुई न!"

"देखो यार! ये बुड्ढोंवाला रोना बन्द करो और आज की बात करो...। ऐसी कोई चीज़ है जिसके फ़ायदे और नुकसान दोनों न हों?"

"फायदों की ऐसी-तैसी, सारे फायदों के सामने तुम बाजार में नंगे खड़े हो!...वो तुमको चलता है?"

"टॉपिक चेंज करो यार...एनफ ...हेनरी! व्हाट आर यु डिज़ाइनिंग दीज़ डेज?" (तुम आजकल क्या डिज़ाइन कर रहे हो?)

"ए सिस्टम फॉर द फ्यूचर कार्स (भविष्य की कारों के लिए एक सिस्टम) जो कि एक किलोमीटर पहले ही ड्राइवर को खतरे से आगाह कर देगा।"

"अरे वाह! याने एक किलोमीटर पहले ही मुझे मालूम पड़ जाएगा कि मेरी बीवी घर पर है या नहीं!" सक्सेना ने बड़ी ज़ोर का ठहाका लगाया।

"किसी से ज़िक्र मत करना...ये डिज़ाइन एकदम यूनीक है और अभी सीक्रेट है!" हेनरी ने कहा

"मैं फेसबुक पे डाल दूँ!...हं हं हं हं...!" शेख़ चहका।

दोस्तों की नोक-झोंक और पार्टी तब तक चली जब तक कि नशे ने सबको दबोच कर नींद की आग़ोश में नहीं फेंक दिया।

जब तक हेनरी अपने फ्लैट पर लौटा शाम के चार बज चुके थे और उसके सर में बेतरह दर्द हो रहा था। उसने कॉफी गर्म की। सोचा थोड़ा और सो लिया जाए, लेकिन फिर ये ख़्याल उसने अपने बचे हुए काम के मद्देनज़र ख़ारिज कर दिया। कम्पनी को अपना डिज़ाइन और रिपोर्ट जमा करने के लिए हालाँकि उसके पास अब भी दस दिन थे, लेकिन उसके पहले उसे तमाम जर्नल्स और नोट्स रिफर करने थे और एक लम्बी रिपोर्ट तैयार करनी थी। हेनरी ने कॉफी का घूँट भरा और कम्प्यूटर ऑन किया।

"हाय ब्यूटीफुल!" कम्प्यूटर ऑन होते साथ फिर वो ही रात वाली लड़की स्क्रीन पर आ गई।

"हाय!" हेनरी को ताज्जुब हुआ, "तुम फिर?"

"हाउ वाज़ योर पार्टी?"

"तुम्हें कैसे मालूम मैं पार्टी में गया था?"

"हमें सब मालूम है...तुमने दो कैन बियर पी और फिर..."

"और फिर...?"

"और आगे कुछ साफ़ साफ़ पता नहीं चल पाया लेकिन मज़ा किया तुमने...।"

"हाउ डू यु नो?"

"पिज़्ज़ा तो तुम ही ने आर्डर किया था न..."

" ओ आई सी ..."

" सो हाउ डू यु फील?"

"व्हाट नॉनसेंस...तुम हमारे ऊपर नज़र रखे हो!"

"नज़र तो तुम पर सभी रखे हुए हैं...।"

"यानी?"

"यानी तुम्हारा बैंक अकाउंट, तुम क्या ख़रीदते /खाते हो, तुम कहाँ जाते हो, क्या करते हो, कम्प्यूटर पर क्या ढूँढ़ते/ पढ़ते हो...क्या है जिस पर तुम पर नज़र नहीं रखी जा रही है...और तुम तो कम्प्यूटर पर इतना काम करते हो तुमसे बेहतर ये बात और कौन जान सकता है!

"असल में ये टेक्नोलॉजी टेक्नीशियन्स ने और बड़ी जल्दी-जल्दी ईजाद कर दी... इसमें सामाजिक इशूज़ कहीं बहुत पीछे छूट गए।"

"समाज हमेशा से ही भ्रष्ट और मतलबी है लेकिन ख़ैर ये सब छोड़ो ...अपनी बात करो, हम समय से पीछे न छूट जाएँ!...मिलने की तमन्ना है?"

"आज मुझे बेहद काम है।"

"काम तो मुझे भी बहुत है। मैं तुम्हारे जैसे न जाने कितने लोगों को न जाने किन-किन बातों के लिए तसल्ली और दिलासा देती रहती हूँ।"

"तुम यही काम करती हो!"

"यही समझ लो....ज़्यादातर लोग जो मेरी मदद चाहते हैं उनमें ज़्यादातर आत्महत्या के ख़्वाहिशमंद होते हैं।"

"कारण?" हेनरी अपनी कॉफी का प्याला लेकर कम्प्यूटर के सामने लड़की की बातों में इंटरेस्ट लेते हुए बैठ गया।

"कारण बहुत हैं!...इन्सेक्युरिटी (अनिश्चितताएँ) बढ़ गईं हैं, स्पर्धा बढ़ गई हैं, कोई सताया हुआ है कोई अपने-आपको सता रहा है।"

"तुम्हारा नाम भी तो होगा या तुम्हें कम्प्यूटर परी कहा जाए!"

"मेरा नाम है लिंडा...लिंडा ग्रीन!"

ज़रा देर के लिए ख़ामोशी रही फिर लिंडा ने कहा, "क्या तुम मेरे साथ सोना पसन्द करोगे?"

"फिर वो ही बात!"

"आज तो तुम थके हुए भी नहीं हो।"

"मेरे साथ ही क्यों?"

"क्योंकि मैं जानती हूँ कि तुम्हारी बीवी से तुम्हारा तलाक़ हो चुका है और औरतों के साथ तुम्हारे सोने के औक़ात बहुत कम हैं।"

"तो क्या ये तुम्हारी समाज-सेवा होगी?"

"एक तरह से...।"

"मुफ़्त?"

"हं हं ...मुफ़्त क्या होता है हेनरी!"

"तुम्हें मेरा नाम भी मालूम है?"

"मुझे ये भी मालूम है कि तुम कौन-सी साइज़ का अंडरवियर पहनते हो... हं हं हं हं..."

"डैम!" हेनरी ने इंटरनेट ऑफ कर दिया।

इंटरनेट ऑफ़ करके हेनरी ने कम्प्यूटर पर अपने प्रोजेक्ट पर काम करना शुरू किया। तभी उसके सेल फ़ोन पर मैसेज आया– 'कितने रूड हो तुम! मैं इतने प्यार से तुमसे बात करना चाहती हूँ और तुमने इंटरनेट ऑफ़ कर दिया! लिंडा।' हेनरी ने अपने दोनों हाथ हवा में उछालकर ओठ गोल करके डिसगस्ट में हवा छोड़ी। फिर उसने फ़ोन भी ऑफ़ कर दिया। वैसे भी आज रविवार था और किसी का फ़ोन आने की कोई उम्मीद नहीं थी। उसके बाद शान्ति से हेनरी ने चार घंटों तक अपने प्रोजेक्ट पर काम किया। जब वह फ़ारिग़ हुआ तब तक रात के दस बज चुके थे और उसे कुछ खाने का जी कर रहा था। उसने पिज़्ज़ा आर्डर किया।

दिन-रात लगे रहने के कारण हेनरी का काम दस दिन की जगह छ दिनों में समाप्त हो गया। इन छ दिनों में न वह कहीं गया, न किसी से मिला और अक्सर लिंडा के डिस्टर्ब किए जाने के बावजूद अपना संयम बरक़रार रख सका। छ दिन बाद आज शाम को वह रिलैक्स्ड था। उसने सोचा ज़रा बाहर

जाकर थोड़ी चहल क़दमी करेगा और फिर किसी शान्त से रेस्टोरेंट में बैठकर अच्छा-सा भोजन करेगा। कितने दिन तो हो गए थे पिज़्ज़ा खाते-खाते!

घड़ी में आठ बज रहे थे। उसने अपनी टी शर्ट बदली, पाँवों में स्लिप ऑन जूते डाले और अपने फ्लैट का दरवाज़ा खोला। सामने वाले फ्लैट का दरवाज़ा खुला हुआ था और वहाँ रहने वाली मोटी अकेली औरत के छोटे-छोटे चारों बच्चे हमेशा की तरह ही रिरिया रहे थे और उनकी मोटी अकेली माँ उन्हें अपनी आदत के मुताबिक़ मार-पीटकर चुप करा रही थी। ये तो रोज़ की बात थी! हेनरी ने लिफ्ट ली और नीचे उत्तर गया। नीचे दस क़दम बाद बिल्डिंग का मेन गेट था और सामने थी सड़क। वो इस ऊहापोह में पड़ गया के जाए कहाँ– इतालियन रेस्टोरेंट में या इंडियन में। इनमें से किसी में भी जाने के लिए सड़क क्रॉस करना पड़ती और ज़रा दूर तक चलना पड़ता। उसने इधर-उधर देखा। ट्रैफिक बहुत था। आस-पास छोटी-बड़ी एक-दूसरे से लगी बिल्डिंग्स भी थीं और कुछ हाई राइज भी। आवारा बच्चे बिल्डिंग्स की 'स्टूप्स' (छोटी सीढ़ियों) पर आने-जाने वालों की सुविधा की परवाह किया बग़ैर कुछ-कुछ खेल रहे थे। अपने चारों ओर देखकर उसके चेहरे पर एक तंज़ की मुस्कराहट तैर गई। 'वाह! हेनरी! वाह!...क्या मुक़द्दर पाया है तुमने! कहाँ अपना 555 पार्क एवेन्यू का पैंट हाउस और कहाँ ब्रोंक्स की इस बस्ती की 196 स्ट्रीट! पार्क एवेन्यू में क्या ठाठ की ज़िन्दगी थी। क्या बड़े-बड़े लोगों की बस्ती थी। क्या पार्क थे, क्या बिल्डिंग्स थीं, क्या रेस्टोरेंट्स थे, क्या तहज़ीबमंद अपर क्लास लोग थे... और कहाँ ये ड्रग्स बेचने वालों और पोर्तुरीकन्स और लैटिन अमेरिकन्स से भरी इतनी भीड़-भाड़ वाला ब्रोंक्स का इलाक़ा! ...Bronx में कौन आता है? वो जो या तो बर्बाद हो जाता है या फिर मामूली मध्यम वर्गीय होता है! अब तुम बर्बाद भी हो और मध्यम वर्गीय हो गए हो, हेनरी!' "...कोई बात नहीं!" उसके अन्दर से जैसे आवाज़ आई, "आज कह लो तुम्हें जो कहना हो...लेकिन कल जब मेरा डिज़ाइन दुनिया देखेगी न...तब देखना मैं फिर पार्क एवेन्यू जाकर रहने लायक हो जाऊँगा!" आस-पास छोटी-छोटी 'बुडेका'(परचून से ले कर सभी ज़रूरी चीज़ें रखने वाली छोटी दुकानें) थीं। छोटे-छोटे मुक़दमें लड़ने वाले छोटे-छोटे वकीलों के छोटे-छोटे दफ़्तरनुमा थे और हवा में फ्राइड चिकेन और इस तरह के खाने की ख़ुशबुएँ तैर रही थीं।

हेनरी सड़क पर ज़रा आगे बढ़ा ही था की एक बढ़ी दाढ़ी, गंजे सर और बढ़े नाख़ूनों वाला एक निहायत ही गन्दा काला शख़्स-नीग्रो- एक निहायत ही गन्दा लम्बा-सा ओवरकोट पहने लाल आँखों से देखता हुआ हेनरी का रस्ता रोककर खड़ा हो गया। 'गिव मी मनी।' (मुझे पैसा दो)

"हैव नो मनी।" हेनरी आगे बढ़ने लगा।

आदमी ने आँखें और बड़ी-बड़ी करके अपना मुँह हेनरी के मुँह के क़रीब लाते हुए एक बार फिर अपनी भभका छोड़ती भर्राई हुई लेकिन इस बार ज़्यादा तुर्श आवाज़ में कहा। 'गिव मी मनी!'

हेनरी को लगा हो सकता है के ये शख़्स अब शायद शारीरिक रूप से नुकसान पहुँचाने पर आमादा हो जाए। वो ज़रा झुका और बाएँ से झुककर के बचते हुए तक़रीबन भाग लिया। तब तक चायनीज़ रेस्टोरेंट आ गया।

रेस्टोरेंट में भीड़ कम थी। हेनरी बैठा ही था कि एक ख़ूबसूरत-सी गोरी लड़की- शायद कोई विद्यार्थी रही होगी जो अपने ख़ाली समय में काम करके पैसे कमा रही होगी– उसके सामने आई, लड़की ने हेलो कहा और उसे एक मेनू कार्ड थमाया।

"यु आर न्यू हियर?"(तुम यहाँ नई हो) हेनरी ने उसकी तरफ़ देखकर पूछा।

"या "

"व्हाट अ ब्यूटीफुल गर्ल लाइक यू डूइंग विथ दी ड्रैगन!" (तुम जैसी ख़ूबसूरत लड़की ड्रैगन के पास क्या कर रही है!)

लड़की हँसी और चली गई। हेनरी ने भी हल्का महसूस किया और अपनी ही शैतानी पर ख़ुद ही मुस्कुराते हुए मेनू देखने लगा।

रात को जब वह वापस पहुँचा तो उसके अन्दर चार बोतल बियर और अच्छा तबियत का खाना उसकी रिलैक्स्ड तबियत को दोबारा-चौबारा कर चुके थे। हेनरी उस दिन आकर सीधा सो गया।

सुबह उठकर उसने अपने प्रोजेक्ट और डिज़ाइन का आख़िरी बार मुआयना किया फिर सोचा ज़रा मेल चेक कर लिया जाए। इंटरनेट ऑन करके उसने अपना मेल चेक किया। तबियत रिलैक्स्ड थी। काम हो चुका था। दो घड़ी फेसबुक भी देखने में क्या हर्ज था! लिंडा फिर आ गई।

"लिसेन हनी...आई लॉन्ग फॉर यू..." (मुझे शिद्दत से तुम्हारी चाह है)

"ऑलराइट बेबी...हियर आई एम!" आज हेनरी और लिंडा ने चैट की। चैट में एक-दूसरे को किस किया, एक-दूसरे के कपड़े उतारे और बड़ी देर तक

मुहब्बत की तमाम तरह की तमाम बातें कीं। क़रीब घंटे-भर बाद लिंडा बड़ी जल्दी में लगी। बोली, "आई गोट टू गो!" (मुझे जाना है)। लिंडा चली गई थी लेकिन अपना पता और फ़ोन नंबर दे गई थी। हेनरी ने इत्मीनान की अँगड़ाई ली और उठकर एक प्याला अपने लिए कॉफी गर्म करके पी।

दोपहर को खाना खाने के बाद हेनरी ने सोचा कि अब उसे अपना डिज़ाइन और अपनी रिपोर्ट क्लाइंट को भेज देनी चाहिए। उसने देखा तो उसके होश उड़ गए। कम्प्यूटर से प्रोजेक्ट उड़ चुका था! हेनरी बर्बाद हो गया था। उसकी मेहनत मटियामेट हो चुकी थी। उसके पास तो इतना पैसा भी नहीं था कि वह क्लाइंट से लिया हुआ एडवांस भी वापस कर सके!...'ये ज़रूर लिंडा की कारस्तानी है' उसने सोचा। उसने लिंडा को फ़ोन लगाया, साइट पर देखा, तस्वीर फेसबुक पर ढूँढ़ी...सब ग़लत, सब झूठ! माथा पीटने के सिवाय कोई चारा नहीं था!

चार हफ़्तों बाद एक नई पैदा हुई कार बनाने वाली कम्पनी का अख़बारों में बड़ा-सा विज्ञापन आया– हमारी कार का एडवांस सिक्योरिटी सिस्टम आपको एक किलोमीटर पहले ही खतरों से आगाह कर देगा!

उसी समय हेनरी के फ्लैट में आंसरिंग मशीन पर मैसेज रिकॉर्ड हुआ, "हाय हेनरी! सक्सेना!...आई जस्ट सॉ दी एड (अभी विज्ञापन देखा)...ये तुम्हारा ही डिज़ाइन किया हुआ सिक्योरिटी सिस्टम है न!...वेल डन मैन!"

उसके बाद एक मेसेज और रिकॉर्ड हुआ, "हेनरी तुमने हमारे साथ धोखा किया है। हमसे पैसे लेकर हमारी प्रतिस्पर्धी कार कम्पनी को सेक्युरटी सिस्टम बेच दिया है! अब हम अदालत में मिलेंगे!"

तब तक आंसरिंग मशीन से ज़रा दूर बग़ल में पच्चीस नींद की गोलियाँ खाए हेनरी सो चुका था।

ट्रायल

दुनिया जिसे जीवन कहती है उसका दूसरा नाम ट्रायल भी हो सकता है! क्योंकि जीवन ट्रायल है– हर बात में, हर चीज़ में, हर गाम पर ट्रायल– हर एक का! और ये ट्रायल भी त्रिरूपी है– शास्त्रों में लिखे अनुसार भी और सामान्य रूप से जो दिखता है उस हिसाब से भी! एक है वह ट्रायल जो भाग्य किसी के साथ करता है, दूसरा वह जो समाज और सामाजिक मूल्य किसी के साथ करते हैं और तीसरा वह जो लोग अपनी भावनाओं/इच्छाओं/कुंठाओं या शाबाशियों के हिसाब से स्वयं के साथ करते हैं। अदालतें समाज के क़ानूनों के हिसाब से ट्रायल करने वाली जगहें हैं!

यह मुक़दमा हाई कोर्ट के चैम्बर नम्बर पाँच में चल रहा था। केस को सुनने वालों की तादाद कमरे की चारदीवारी से कहीं ज़्यादा फैल गई थी। मीडिया के जितने प्रकार हो सकते हैं सब मौजूद थे। बाहर टी. वी. चैनल वालों की डिश लगी वैन्स खड़ी थीं–दर्शकों को ये जताने के लिए कि कोर्ट में आज जो हुआ वो 'सबसे पहले आपको हमने दिखाया'! 'स्टेट वर्सिस सलमा' मुक़दमे के बारे में देश-भर जानना चाहता था।

"फैसले इमोशनल बेसिस पर नहीं होते!" जज ने हथेली से मेज़ पर जैसे थप्पड़ मारा।

"रांग योर ऑनर ...। रांग!"

"हाउ डेयर यू...।"

"बिकॉज़ ...। क़ानून की बुनियाद ही इमोशनलिटी है। क़ानून बनते ही सोसाइटी की इमोशनल ज़रूरतों और जज़्बात को देखकर हैं। समाज की इमोशनलिटी और सेन्सबिलिटी को हर्ट होने से बचाने के लिए ही तो क़ानून बनते हैं...और फैसला अदालतों में इन्हीं क़ानूनों के अन्तर्गत होता है। तो ऐसा कैसे मान लिया जाए कि फैसले इमोशनल बेसिस पर नहीं होते!

"ये अदालत है एडवोकेट धीर ...लफ़्ज़ों से खेलना बन्द कीजिए।

"योर लॉर्डशिप मैं तो आपके सामने तथ्यों को रख रहा हूँ और ये साबित

करने की कोशिश कर रहा हूँ कि मेरी क्लाइंट दरअसल बेगुनाह है।"

"इसने ख़ून किया है...ये ख़ूनी है...इस बात को कैसे नकारा जा सकता है?"

सलमा बाईस साल की वो लड़की थी जिसका नाम सलमा नहीं था। ये बात और है कि अब जानी वो इसी नाम से जाती थी। उसका असली नाम शान्ता कुशवाहा था और ये शायद वो ख़ुद भी अब भूल चुकी थी। शान्ता कहकर कोई यदि उसे बुलाता तो भी शायद वो रेस्पांड न कर पाती। इस शान्ता के सलमा हो जाने का सफर तेरह साल पुराना है। और यही वजह इस मुक़दमे के इतना पॉपुलर हो जाने की भी है।

बिहार के पूर्णिया ज़िले में एक थे हीरा लाल कुशवाहा। छोटी-सी ज़मीन के टुकड़े पर धनिया और पालक उगाकर गुज़र करते थे। ज़मीन छोटी थी लेकिन पुश्तैनी थी और उससे गुज़ारा तो हो जाता था लेकिन मेहनत बहुत थी और उससे बस दाल-रोटी की ज़रूरतों से ज़्यादा कुछ नहीं था। बीवी सहयोग करती थी। इधर-उधर कंडे पाथ देना। लोगों के घरों में बरियाँ/पापड़ बनाने में मदद कर देना, शादी-ब्याह में पूड़ी-वूड़ी बेल देना...गुज़ारा चल रहा था। लेकिन चलती गाड़ी को रोक देना किस्मत के हाथ में होता है सो एक दिन कंडे पाथते-पाथते सड़क के किनारे एक गबरू साँड़ किसी दूसरे से लड़ते-लड़ते भागा-भागा हीरालाल की बीवी की पीठ पर कुछ इस तरह आया कि उसका एक सींग सीधा कमर से होता हुआ पेट में घुस गया। साँड़ की लड़ाई तो इस वजह से हालाँकि थम गई लेकिन हीरालाल और उसकी पत्नी की लड़ाई शुरू हो गई। गाँव में वैद्य-हकीम ने जो-जो दवा दी और जो-जो लेप घर में बन पड़े वो लगाए गए। पन्द्रह दिन में घाव सड़ने लगा और दस दिन बाद हीरालाल की पत्नी दर्द में चीखते-चिल्लाते तपता शरीर लिये ठंडी हो गई। रह गए हीरालाल और उनकी दस साल की बेटी–शान्ता– शन्नो!

"बिटिया बड़ी हो रही है, तुम्हारे पास समय है नहीं...। इ कहीं गलत हाथन में पड़ी न तो गया सब..." अलग-अलग शब्दों में एक ही बात दोस्त, एहबाब, पड़ोसी, रिश्तेदार सबने कही। कुछ लोग तो सीधे-सीधे रिश्ते भी ले आए। इसी चक्कर में बीवी की वरसी भी होने न पाई कि हीरालाल की दूसरी शादी हो गई। नई बहू देखने-सुनने में तो अच्छी थी लेकिन थी बहुत नकचढ़ी। उसे पैसे से बहुत मोह था और हीरालाल की बेटी शन्नो से सख्त चिढ़!

"मर काहे न गईं तुम अपनी अम्मा के संग!"

पहले तो शन्नो का स्कूल– जैसा भी था, था तो स्कूल ही– छुड़वाया गया।

"यहाँ समय गँवाएगी तो काम का करेगी?...दुइ पैसा कमाओ, हाथ बटाओ...समझीं!"

हीरालाल समझाते रहे लेकिन बहू न समझी। शन्नो घर के कामों में उलझी रहती और उसकी नई माँ वाहर आराम से इधर-उधर बतियाती-इठलाती औरों के कामों में हाथ बटाती फिरती। शन्नो की सहेलियाँ छूट गईं। ज़रा-ज़रा लिखना-पढ़ना सीख चुकी थी सो वो भी अब भूल चली। कभी बापू को अकेला पाकर उसके कन्धे पर रो लेती थी लेकिन जब उसने देखा कि इससे कोई फ़ायदा तो है नहीं, होना वो ही है जो नई माँ को करना है, तो उसने रोना बन्द कर दिया और इस सोच में लग गई कि आख़िर इस नरक से, मार-पीट से, तानेबाज़ी से, भूखे पेट रहने से छुटकारा कैसे पाया जाए। और तब ये सोच और शिद्दत पकड़ गई जब माँ ने इस चौदह साला लड़की का ब्याह इसी गाँव के पचास साला एक काने से तय कर दिया। शन्नो की समझ में कुछ नहीं आया। हीरालाल की भी एक न चली और पक्यात का दिन मुक़र्रर कर लिया गया– 15 अगस्त!

"हमहुँ आजाद, तुमहुँ आजाद..." माँ ने शन्नो से हाथ जोड़कर कहा।

14 अगस्त की रात को शन्नो घर से भाग गई!

होने वाला दूल्हा गाँव के पंचों में था। दो बीवियाँ करके छोड़ चुका था और बच्चा उसके एक नहीं था। दिमाग़ हद दर्जा राजनीति वाला रखता था– किसका कुलाबा कहाँ लगाया जाए, किसकी किससे लगा के अपनी कैसे बनाई जाए– इसलिए उसकी पंचों में पैठ बहुत थी। और पंचों में पैठ थी इसलिए गाँव के लोगों में भी 'पॉपुलर' था। सुबह-सुबह जब उसने सुना कि उसकी होने वाली 'छुटानिया' बहू भाग गई है तो उसने ख़बर देने वाले को चेहरा गड़ाकर दोनों आँखों का भान देते हुए एक आँख से घूरा, "तो ढूँढ़ो साली को। इत्ता-सा गाँव है...जैहै कहाँ!"

रेलवे स्टेशन वहाँ था नहीं, सड़क पर इतनी आवाजाही भी नहीं थी, ले-दे के एक बस अड्डा था सो वो भी रात को बन्द होता था। बसें सुबह सात के पहले शुरू नहीं होती थीं। वहाँ भी देख लिया गया। शन्नो की माँ ने छाती पीटी। हीरालाल कुशवाहा ने पहली बार अपनी बीवी को भद्दी-सी गाली देकर उस पर इसका दोष मढ़ा। 'काने' के लोग इधर-उधर भागे लेकिन उनका तो कुछ गया नहीं था सो जितना ढूँढ़ लिया उतना बहुत हुआ। सुबह आठ तक जब कोई पता

नहीं चला तो समझ लिया गया कि शन्नो 'अब गई'। कोई जानवर-आनवार उसे खा गया होगा!

हुआ ये था कि घर से निकलकर लड़की पहले तो गई सड़क पर कि कहीं कोई शहर की ओर जाती लॉरी-वॉरी मिल जाए और वो उसके साथ चली जाए। लेकिन एक तो वहाँ अँधेरा बहुत था और सुनती भी आई थी कि वहाँ जंगली जानवरों से ख़तरा बना रहता है। सो डर के मारे शन्नो ने सोचा बस अड्डे जाकर देखा जाए। पहुँची तो देखा कि आस-पास छुपने लायक़ कोई जगह नहीं थी। एक टिकेट बाबू की टपरिया थी लेकिन वो भी बन्द थी। अगस्त का महीना था, अचानक बारिश शुरू हो गई। वहाँ ले-देकर एक बस खड़ी थी जो शायद सुबह से पहले जाने वाली नहीं थी। बस का दरवाज़ा खोलना न उसे मालूम था न कोशिशों के बावजूद उससे खुला... हाँ! उसने एक खिड़की खुली देखी जिसमें जँगले नहीं लगे थे और जो खुली पड़ी थी– शायद आपातकालीन रही हो और उसके शीशे टूट चुके हों!। शन्नो ने अपनी धोती ऊपर बाँधी और चढ़ गई बस का हैंडल पकड़कर और कूद गई उस खुली खिड़की से बस के अन्दर। रोते, ठिठुरते, भगवान की चिरौरी करते-करते जब पौ फटने को हुई तो मुसाफ़िर आने लगे। शन्नो एक सीट के नीचे दुबक गई। बस में कोई छुपा होगा ढूँढ़ने वालों को भी ख़्याल नहीं गुज़रा और चूँकि सुबह की पहली बस थी– मुसाफिरों की भीड़ भी इतनी नहीं थी। चलते-चलते एक रेल क्रासिंग पर बस जब रुकी और काफी देर रुकी रही और जम्हाई लेते हुए कंडक्टर ने गर्दन जो मोड़ी तो उसे शन्नो दिखाई दी। उसने ताज्जुब ज़ाहिर किया और टिकिट के लिए पैसे माँगे। लड़की ने कहा स्टॉप पर उसके चाचा आ के दे देंगे। फिर जब किसी अजनबी शहर के एक बड़े से बस अड्डे पर बस रुकी तो शन्नो बस से निकलकर 'बिला गई'! कंडक्टर तम्बाकू मलते हुए, "चूतिया बना गई साली!" कहता रह गया!

"इसका मतलब है लड़की शातिर और बदमाश है। वो धोखा देना, झूठ बोलना और बच निकलना अच्छी तरह जानती है।" सरकारी वकील ने बात पकड़ी।

एडवोकेट धीर हँस दिए।

"इस हँसी का मतलब?" जज ने त्यौरियाँ चढ़ाकर पूछा।

एडवोकेट धीर ने– जैसे अचानक देखा हो– अपने कोट के ऊपर से एक छोटा-सा गोल-गोल काला-काला कीड़ानुमा झटका जो जाकर सरकारी वकील के कोट के ऊपर गिरा। सरकारी वकील हड़बड़ा गया और उसने उसे फ़ौरन

अपने कोट से झाड़ कर नीचे ज़मीन पर झटक दिया और उस पर जूते के तल्ले को पीटना शुरू कर दिया।

"ये क्या हो रहा है? व्हाट हैव यू डन मिस्टर धीर?" जज चिल्लाया।

"योर ऑनर ...मैं यह बताने की कोशिश कर रहा हूँ कि मुसीबत में अक़्ल अपने-आप आदमी को बचने के तरीके सुझा देती है। सरकारी वकील साहेब जैन हैं और धर्म से भी ये किसी जीव जन्तु को मारते नहीं हैं लेकिन इस समय ये छोटे से फाइल के मोटे फीते को कोई ज़हरीला कीड़ा समझकर उसे मारने में लगे हैं। इस लड़की के साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ...। अपनी बे-बसी, बेचारगी और परेशानी के समय में उसे इसके सिवाय कुछ और नहीं सूझा। एक चौदह साल की बच्ची को एक पाँच रुपए के टिकेट से बचने का और कोई उपाय नहीं सूझा। दिस इस नॉट बदमाशी योर ऑनर ...दिस इस इंस्टिंक्ट!"

कट दी स्टोरी शार्ट सरकारी वकील सामने आ गया, "वो लड़की जहाँ भी पहुँची वहाँ से बम्बई चली गई। वो जैसे भी चली गई इज़ नॉट इम्पोर्टेंट, इम्पोर्टेंट ये है कि उसने वहाँ पुलिसवालों से दोस्ती कर ली।"

"ऑब्जेक्शन!" धीर ने ऐतराज़ किया, "ये हकीकत को मरोड़ना है।"

"सस्टेंड!"

लड़की–शन्नो– उर्फ़ शान्त कुशवाहा– ट्रेन के टॉयलेट में किसी तरह छुपते-छुपाते भाग निकली। उसे नहीं मालूम था कि वो ट्रेन जिसमें वो बैठी है बम्बई जा रही है। एक बार भुसावल स्टेशन पर टी. सी. ने उसे देख भी लिया। उससे टिकेट भी माँगा लेकिन फिर उसकी दशा देखकर उसे भिखारी समझकर अगले स्टेशन पर उतर जाने की धमकी देकर छोड़ दिया। वैसे टी. सी. उसे बग़ैर टिकेट यात्रा के जुर्म में हवालात में बन्द करवा सकता था लेकिन इसकी दशा देखकर उसने ऐसा नहीं किया।

शन्नो बम्बई वी. टी. स्टेशन जब उतरी तब रात के दस बज रहे थे और परिसर में भीड़ बेहद थी। शन्नो ने इतना बड़ा स्टेशन पहली बार देखा था। पहले तो वह बौखला गई और किंकर्तव्यविमूढ़ होकर रोने लगी। फिर उसने सोचा ऐसे तो काम चलेगा नहीं। कहाँ जाए क्या करे इस बावत किसी से तो पूछना पड़ेगा। पूछने के लिए उसने सोचा पुलिस से विश्वसनीय और कौन हो सकता है! लेकिन लड़की घर से भागी थी, छुपती-छुपाती यहाँ तक पहुँची थी इसलिए पुलिस से उसने गुरेज़ करना ही बेहतर समझा। पुलिस से नज़र बचाकर शन्नो कॉनकोर्स में लगे नल की तरफ़ पानी पीने चली गई। नल कुछ

ऐसा था कि ज़रा-सा दबाओ तो अच्छा-खासा फ़व्वारा छोड़ता था। शन्नो का सारा ऊपरी शरीर पानी से भीग गया और जब वो मुड़ी तो उसकी साड़ी-ब्लाउज उसके स्तनों से चिपटे हुए थे।

हवलदार एकनाथ साटम– जो वहीं आस-पास डंडा लिये खैनी दबाए 'आख़-थू' कर रहा था– उसने शन्नो को नज़र चुराते हए देख लिया था। वह लगातार इसे टकटकी लगाए ताड़ रहा था। और अब तो ख़ैर शन्नो की तरफ़ देखने की और भी वजह थी।

"छूट गया न फ़व्वारा ...कशाला ज़ाती तिकड़े (क्यों जाती हो वहाँ)...। हे घ्या (ये लो)" साटम ने शन्नो को पानी से भरी एक ठंडी बोतल थमाते हुए कहा। चार दिनों की भूखी-प्यासी तिरस्कृत लड़की को पहले तो इस सहानुभूति पर विश्वास नहीं हुआ। फिर उसने साटम से बोतल ले ली।

"कुठून अला तुम्हीं?" (कहाँ से आई हो तुम?)

शन्नो नहीं समझी यह साटम समझ गया। उसे पूछा, "किदर से आया तुम?"

लड़की सहमी हुई थी और अविश्वास से घिरी हुई।

बोली, "हियाइँ से।"

"अकेला है?"

शन्नो ने हाँ में सर हिलाया।

"कुछ खाएगा?"

शन्नो ने कोई जवाब नहीं दिया।

साटम ने दो क़दम बढ़कर पास के स्टॉल वाले को इशारा करके कहा, "ए ...। बिटिया को कुछ खाने को दे...। गरम काय ए (गरम क्या है)...पैटिस आहे? (पैटिस है?)" उसने शन्नो की तरफ़ देखकर पूछा, "पैटिस खाएगा?"

शन्नो पैटिस का नाम ही पहली बार सुन रही थी। उसकी समझ में कुछ आया नहीं; लेकिन भूख तो बेतरह लगी थी। खाने को होना चाहिए, कुछ भी चलेगा!

"ले लो...एक और ले लो... ए!...ला...। एक और दे बिटिया को।" साटम ने शन्नो के बग़ल वाली टूटी कुर्सी पर बैठते हुए कहा।

"रात कितना हो गया है रे...किधर जाएगा?"

शन्नो ने कोई जवाब नहीं दिया। जवाब था ही नहीं कोई जो वो देती।

घंटे-भर की सहानुभूति, पैटिस, पानी, चाय और 'बिटिया' वाले संबोधन

ने शन्नो का साटम पर कुछ भरोसा पैदा कर दिया।

"मेरा ड्यूटी रात को बारह तक है...तब तक तू बैठ...उसके बाद मेरे साथ चल...घर पर...अच्छे से आराम कर...। इधर अच्छी लड़कियों के लिए जगह ठीक नहीं है...समझी न!"

"और इस तरह योर ऑनर!" धीर ने कहा, "साटम विल्ट हर कॉन्फिडेंस!"

"योर ऑनर एडवोकेट धीर कहानी सुना रहे हैं कि केस की पैरवी कर रहे हैं?...साटम वाज एक्चुअली बीइंग नाइस टू ए डेस्टीट्यूट..."

"और उसके बाद...धीर ने बग़ैर जवाब दिए बोलना जारी रखा... साटम इस अभागी लड़की को..."

"ऑब्जेक्शन!...ये अभागी नहीं है। ये बहुत शातिर है।"

"ओ. के.!...गो ऑन मिस्टर धीर।" जज ने सरकारी वकील-एडवोकेट जैन- को शान्त रहने के लिए हाथ दिखाकर कहा।

" ओ. के. ..इस लड़की को," धीर ने अपना बयान ठीक करते हुए कहा, "साटम उस रात अपने दोस्त के घर ले गया जहाँ उस वक़्त दोस्त अपने गाँव गया हुआ था और उस घर में केवल दोस्त की पत्नी ही थी। साटम ने इसे उस औरत के साथ रख दिया। दो दिन रात लड़की उस घर में आराम से रही। साटम रोज़ शाम को उसका हाल-चाल लेने आता था। इससे शन्नो का विश्वास साटम की शराफ़त पर और दृढ़ हो गया। दूसरे दिन शाम को साटम इसे लेकर चौपाटी बीच घुमाने ले गया।

"कल मेरा दोस्त गाँव से वापस आ जाएगा...।"

"तो?"

"तो...उस घर में तेरा रहना प्रॉब्लम हो जाएगा...जागा ही किधर है उधर... एक कमरा तो है।"

"फिर?" शन्नो ने सवालिया नज़रों से साटम को देखकर कहा।

"तू चिन्ता मत कर...साटम है न...। तेरे लिए कफ़ परेड पे जो चाल है न...। उदर मैं एक खोली देखेला है...। क्या?!...उदर रय तू आराम से..."

दूसरे दिन दोपहर में शन्नो को लेकर साटम कफ़ परेड में क्रीक के किनारे वाले स्लम की एक छोटी-सी खोली में आ गया। आठ बाई आठ की खोली, टॉयलेट बाहर– सार्वजनिक– और वातावरण में मछली का भभका मारती आर्द्र-आर्द्र समन्दरी हवा। शन्नो को उबकाइयाँ आने लगीं।

"ठैर जा...। इसका भी बनोबस करता है मैं" और शाम होते-होते साटम

ओल्ड मोंक के दो क्वार्टर और मुर्गे की दो तन्दूरी टाँगें ले आया।

"मैं मुर्गा नईं खाती।"

"तो अब खा ले।"

"मैं शराब भी नईं पीती।"

"तो अब पी ले...स्वर्ग पाने का यही एक रास्ता है।"

साटम ने फिर जिस प्यार और मोहब्बत से शन्नो को गले लगाकर मनाया उससे वो पिघल गई। और फिर ओल्ड मोंक के दो पैगों के बाद जिस लगन और नज़ाकत से साटम ने शन्नो के मुँह से मुँह लगाकर उसे गर्म करना शुरू किया उससे शन्नो के पोर-पोर खुलने लगे। क्वार्टर और मुर्गे ख़त्म होते-होते साटम और शन्नो दोनों ने स्वर्ग के दर्शन कर लिये थे और दोनों का निर्वाण हो चुका था।

ऐसा हर शाम अगले पाँच दिन तक लगातार चला। और शन्नो को साटम से प्यार हो गया।

"मार्क किया जाए योर लॉर्डशिप, जिसे लड़की ने प्यार समझा...इवन साटम ने भी प्यार ही किया...। नथिंग रांग...दो कॉनसेंटिंग एडल्ट्स..."

"एडल्ट्स नहीं...लड़की जुविनाइल थी...चौदह वर्ष की थी...इस हिसाब से कि अब उसकी उम्र डॉक्टरों ने बाइस निर्धारित की है।"

"प्रोसीड!"

पाँच दिन बाद शराब ओल्ड मोंक से सन्तरा नारंगी की कंट्री और मुर्गे की बजाय खाने के लिए चने और सींग हो गए थे। प्यार और नज़ाकत ख़त्म होकर थप्पड़ और गालियाँ हो गई थीं। अब शन्नो वहाँ से भाग जाना चाहती थी, लेकिन सवाल था कहाँ और कैसे! उसकी परेशानी पहले ही जैसी बल्कि और ज़्यादा थी। दूसरी परेशानी ये भी थी कि बग़ल वाली खोर्ली में काली साँड़-सी बैठी राजम्मा हर बात की बाक़ायदा ख़बर रखती थी। राजम्मा पुलिस वालों की ख़ास थी और साटम पुलिस वाला ही तो था!

पन्द्रह दिनों बाद साटम एक दिन सुबह-सुबह ही आ धमका।

"ये जीन्स-पैंट पहन ले...। शर्ट पहन ले...नया लाया तेरे लिए...साला कितना बदबू मरता है तेरा साड़ी रे..."

"ये पहनना तो मुझे आता नईं..."

"मुझे कपड़े पहनते नईं देखा...। साल्लि...नखरा दिखाती है...चल पहन ले और चल।"

"किदर?"

"चल बोला न...। तो चल, बस!"

दोनों चाली से सड़क तक झोपड़ी-झोपड़ी होते हुए राजम्मा की पैनी नज़रों से 'पास' हुए। साटम और राजम्मा की आँखों-ही-आँखों में ख़ामोश 'बाई बाई' भी हुई। शन्नो साटम के साथ पीछे-पीछे ऐसे चली जैसे कि मक़तल में ले जाती हुई बछिया!

कफ़ परेड से टैक्सी चली तो रुकी कोलाबा के पास्ता लेन नम्बर दो की एक चार मंज़िला इमारत के नीचे। तीसरी मंज़िल तक सीढ़ियाँ चढ़ने के बाद तीन नम्बर के फ़्लैट में साटम ने घंटी बजाई। अन्दर से एक निहायत चीमड़ से दिखते दुबले-पतले आदमी ने छह इंच दरवाज़ा खोलकर देखा। साटम को पहचाना और फिर अन्दर का दरवाज़ा और बाहर के स्टील फ्रेम का सेफ्टी डोर पूरा खोल दिया।

"मैडम कुठे?" साटम ने कमरे में पड़े सोफे पर आराम से बैठते हुए पूछा। आदमी जिसने दरवाज़ा खोला था बग़ैर कुछ कहे अन्दर चला गया।

"बैठ!" साटम ने कहा और शन्नो भी उस सोफे पर बग़ल में बैठ गई। दो मिनट भी नहीं गुज़रे होंगे कि एक मोटी-सी साड़ी में लिपटी, सोने के ज़ेवरों से लदी और नारियल तेल से महकती औरत अन्दर से आई। उसने शन्नो को आँख भर देखा, फिर साटम की तरफ़ मुड़ी और सोफे के सामने कमरे के दूसरे तरफ़ दीवार में एक आले में तस्वीरों से भरे मन्दिरनुमा–जिसमें तमाम फूल लगे थे और एक दीया जल रहा था– के ठीक नीचे पड़ी एक पुरानी-सी नीम-आराम कुर्सी पर विराजमान हो गई। फिर वो कुछ बोली नहीं और रह-रहकर शन्नो की ओर ऊपर से नीचे तक देखती रही।

"देखती क्या है...। टंच माल है!... टेस्ट कियेला है...!"

"किसने?...तू ने?"

"और कौन टेस्ट करेगा...हैं हैं हैं हैं ..."

"तब बेकार होएँगा ...तेरा तो कुछ होतई नईं...तू क्या जाने टंच माल क्या होता है।"

"चल चल...। धन्धे की बात कर..."

"जा...। अन्दर जा...गुरु देगा... औरत ने साटम से कहा। फिर उसने दृष्टि शन्नो की ओर घुमाई, "क्या नाम है तेरा?"...साटम अन्दर जाते-जाते रुका, मुड़ कर बोला, "शन्नो...। शन्नो नाम है इसका...और ए शन्नो...ये मैडम हैं...

इनको मैडम बोलने का ...समझी!"

"मैं क्या इदर रहने वाली हूँ?" शन्नो ने सहमते-सहमते और उस जगह के लिए हद दर्जा हिक़ारत से भरपूर तबियत से पूछा।

साटम तब तक अन्दर चला गया था। जवाब मैडम ने दिया, "हाँ...तू इधरछ रैने वाली है।"

अदालत में जज परेशान हो गया। उसने क़लम ज़ोर से मेज़ पर पटककर कहा, "यू नो ...। यू आर वेस्टिंग कोर्ट्स टाइम एडवोकेट धीर...। स्टॉप दिस नॉनसेंस...इन फैक्ट्स से आप साबित क्या करना चाह रहे हैं!"

सरकारी वकील एडवोकेट जैन ने बढ़कर इत्तेफ़ाक़ किया।

"योर लॉर्डशिप ...एक ज़िन्दगी का सवाल है," धीर ने दलील दी, "मेरे फैक्ट्स पूरे हो जाने दीजिए आप ख़ुद समझ जाएँगे कि मैं साबित क्या करना चाह रहा हूँ।"

"ओह माय गॉड!" जज ने घड़ी देखकर आह भरी, "ओ. के. प्रोसीड।"

उस फ्लैट में जाकर शान्ता कुशवाहा उर्फ़ शन्नो सलमा बन गई। अलग-अलग लोगों के अलग-अलग तरीक़ों से मन बहलाव का साधन। दिन में रो-रोकर, अपने भाग्य को कोस-कोसकर और रातों को खिलखिलाते हुए हँस-हँसकर उसने साढ़े सात साल काट दिए। और इन साढ़े सात सालों में अगर कोई उसका अपना उसे मिला तो वह थी हीरी– पिछले दो सालों से! हीरी दस साल की वह छोकरी थी जो रोज़ स्कूल जाने से पहले अपनी माँ का हाथ बँटाने के लिए आस-पास के घरों/दुकानों में हार-फूल की पुड़िया दे जाया करती थी। बच्ची थी, हँसमुख थी, मज़ाहिया थी और छेड़छाड़ में उसे मज़ा आता था। इसी के चलते हीरी से सलमा की जान-पहचान फिर दोस्ती और फिर अपनापा हो गया। शन्नो ही थी जो उससे उसकी पढ़ाई और उसकी परेशानियों के बारे में पूछती थी और हीरी ही थी जो शन्नो से हँसी-मज़ाक़ और चुहुलबाज़ी करती थी। जिसके पास जो नहीं था वह एक-दूसरे को एक-दूसरे से मिल रहा था। मन मिल गए। मन मिले तो एक-दूसरे पर अधिकार की भावना भी जाग गई और एक अनकहे रिश्ते ने भी घर कर लिया।

सलमा हीरी में अपने-आपको, उसके बचपन में अपने बचपन को और उसके सपनों में अपने सपनों को देखती थी। वे सपने जो वक़्त और मुक़द्दर ने मिलकर कुचल दिए थे। शन्नो उर्फ़ सलमा ने कई बार हीरी को कुछ पैसे की मदद करनी चाही लेकिन हीरी ने मना कर दिया।

"मैं तुम्हारे लिए क्या करूँ...मुझे तो कुछ आता ही नहीं...। मैं तो तुम्हारी तरह स्कूल की पढ़ी भी नहीं हूँ।"

हीरी की माँ का फूलों का बाँकड़ा पास्ता लेन के मोहाने पर ही था। हीरी की माँ साटम–जब भी आता–उसे राम-राम करती- ये उसकी शायद मजबूरी होती। हीरी को साटम कभी पसन्द नहीं आया। उसकी टेढ़ी चाल हमेशा उसकी हँसी छुटा देती थी। "–साली हँसती है...। तँचाई ला ..." साटम दांत पीसकर सीढ़ियाँ चढ़ जाता था।"

सलमा की जवानी ग़ज़ब की निखर आई थी। बदन गदरा गया था और अदाएँ उतरा गई थीं। तजुर्बों के नाम पर रोज़ नए ग्राहक– कभी फ्लैट में कभी बाहर होटलों में और-और भी न जाने कहाँ-कहाँ! साटम भी अक्सर पधार जाता था कभी सलमा के पास, कभी किसी और के पास। वह अक्सर यहाँ की लड़कियों को अपने अफसरों, जान-पहचान के नेताओं के पास भी ले जाता था। और शायद इसी के चलते उसने पिछले सालों में ग़ज़ब की तरक़्क़ी कर ली थी– वह हवलदार से अब सीनियर सब-इंस्पेक्टर हो गया था। वह अब बॉम्बे सेंट्रल रेलवे स्टेशन के पास अग्रीपाड़ा पुलिस स्टेशन पर बैठता था।

उस दिन शाम का समय था। सूर्यास्त हुआ हुआ था और बग़ल की मस्जिद से लाउडस्पीकर ज़ोरों से मग़रिब की अज़ान दहाड़ रहा था। साटम की पुलिसिया अरमाडा बिल्डिंग के नीचे आ कर रुकी। साटम किसी तरह गाड़ी से उतरा-नशे में धुत! उसने फूलवाली के बांकड़े से बग़ैर कुछ कहे-सुने एक वेणी नोचकर अपनी मुट्ठी में दबाई और नाक से लगा ली। फिर किसी तरह लड़खड़ाते-लड़खड़ाते अपनी टेढ़ी चाल से सीढ़ियाँ चढ़कर वह तीसरी मंज़िलवाले फ्लैट पर पहुँचा। वह घंटी बजाता इससे पहले दरवाज़ा खुला। वहाँ से महीने-भर का हिसाब लेकर हीरी निकल रही थी। उसने साटम को देखा और उसकी टेढ़ी चाल और सीधे खड़े न रह पाने पर बड़ी ज़ोर से मुँह पर हाथ रखकर हँसी। साटम को मालूम तो था ही कि हीरी उसकी टेढ़ी चाल का मज़ाक़ उड़ाती है, आज वो सामने पड़ गई और उसे उस पर बेतरह गुस्सा आ गया। नशे ने भी अपना काम मुस्तैदी से किया। साटम ने हीरी को एक हाथ से पकड़ लिया, ठेल दिया फ्लैट के अन्दर और गिरा दिया उसे सोफे पर। लड़की डर गई। डर गई तो चिल्लाई। चिल्लाई तो अन्दर से शन्नो निकल आई और उसके साथ-साथ 'मैडम'। दो-चार और लड़कियाँ भी निकलीं लेकिन वे सब डर के मारे वापस चली गईं। साटम हीरी के सामने अपना पैंट उतारता जाता था

और हीरी को गालियाँ पर गालियाँ दिए जाता था। मैडम ने साटम को फटकारा, "साटम ! सोड...सोड तेला (छोड़ो, छोड़ो उसे)...देख अच्छा नईं होयेगा।"

"तेरी माँ का साली...मेरा खा के मुझ पर घुर्राती है...मैडम होगी तू इनके लिए...। मेरे लिए तो तू भी साली रंडी ही है...चल जा...अन्दर जा...। आज मैं इसे नईं छोड़ने वाला!"

"वो छोटी है साटम..."

"वोई तो मजा है..."

शन्नो ने साटम का हाथ पकड़ लिया, "छोड़ दे इसे...। ये मेरी बेटी जैसी है।"

"तेरी बेटी!" साटम ठठाकर हँसा, "तेरी बेटी!...तब तो और भी मजा आएँगा...।" साटम ने पैंट उतारकर एक किनारे फेंक दी।

शन्नो ने झट से झुककर बेल्ट में लगा पिस्तौल निकाल लिया और साटम पर तानकर चिल्लाई, "छोड़ता है कि नईं?" मैडम डर गई। उसने शन्नो को समझाया, "ये क्या कर रही है...ये पुलिसवाला है।" शन्नो ने पिस्तौल और तान दी, "छोड़ता है कि नईं?!" साटम और ज़ोर से हँसा और उसने हीरी की फ्रॉक पेट के ऊपर कर के उसे कमर के नीचे नंगा कर दिया...लड़की जैसे सन्निपात में थी। उसकी आवाज़, समझ, सोच सब कुछ कुन्द हो चुके थे। शन्नो फिर चिल्लाई, "छोड़ दे साटम...। मैं तुझे और ज़िन्दगियाँ बर्बाद नईं करने दूँगी।"

"बर्बाद!" साटम ने हीरी की जाँघों के बीच में हाथ फेरते हुए मज़ा लेकर कहा, "मैं तो इसकी योनि आबाद कर रहा हूँ...। है न बेबी!"

साटम बस हीरी पर झुका ही था कि धड़ाम से एक गोली चली और साटम की दायीं बाँह में से ख़ून गिरने लगा। साटम शन्नो की तरफ़ अचम्भे से मुड़ा तो दूसरी गोली चली जो सीधे उसके सीने को पार करती निकल गई और साटम मुँह खोले साँस के लिए तड़फड़ाता पीठ के बल गिर पड़ा। शन्नो ने हीरी को आकर सीने से लगा लिया। मैडम ने वरिष्ठ पुलिस अफसरों को फ़ोन कर दिया।

एक मासूम ज़िन्दगी को भ्रष्ट होने से बचा लिया गया, लेकिन एक भ्रष्ट की जा चुकी मासूम और बेगुनाह ज़िन्दगी क़ैद कर ली गई!

"बेकार की बात है योर ऑनर ...इस बात से कि 'ख़ून हुआ है', इस तथ्य से तो इनकार नहीं किया जा सकता।" सरकारी वकील ने कहा।

"ख़ून हुआ है ये सच है," धीर ने फाइल पटकते हुए कहा, "लेकिन ये

आधा सच है...पूरा सच ये है कि एक ज़िन्दगी को बचाने का प्रयास हुआ है। एक क्राइम को प्रिवेंट करने के लिए। एक सुरक्षा प्रदान करने के लिए। एक गुनाहगार से एक मासूम को बचाने के लिए। एक दरिन्दे से इन्सान को बचाने के लिए। बारह साल तक की बच्चियों को अगर हम देवी का अवतार मानते हैं तो एक देवी को एक राक्षस से बचाने के लिए...। एक ज़िन्दगी को मौत से बचाने के लिए...। एक इन्सानी फ़र्ज़ निभाने के लिए...इसलिए इसे क़त्ल नहीं माना जा सकता। इसे आत्मरक्षा की श्रेणी में रखा जाना चाहिए ...और ये ही अदालत से मेरी दरख़्वास्त है।"

सरकारी वकील से कुछ बोलते नहीं बना। जज ने घड़ी देखी। पाँच बज रहे थे। अदालत इस दिन के लिए बर्ख़ास्त हो गई। टी. वी. कैमरेवाले जो भी बाहर निकला उसका इंटरव्यू करते रहे।

दूसरे दिन स्टेट वर्सिस सलमा का फैसला सुनाया गया। शन्नो बरी कर दी गई। उसी वक़्त से टी. वी. में बहसें छिड़ गईं। क़ानूनी हल्क़ों में केस के चर्चे होने लगे। सलमा ने एडवोकेट धीर को धन्यवाद दिया।

"शुक्रिया वकील साहेब...। आपकी फ़ीस जमा करवा दी है।"

"आप पर पूरा यक़ीन है...लेकिन आप चिन्ता न करें, फिलहाल आपको आराम की ज़रूरत है।"

"अब तो आराम-ही-आराम है वकील साहेब! तसल्ली ये है कि लाइफ़ में कुछ तो अच्छा किया...और अब इसके बाद इस लाइफ़ का कोई परपज़ भी नहीं रहा।"

हीरी और उसकी माँ जो अब तक शन्नो से अदालत में मिलने नहीं दी जा रही थीं अब आगे आकर उसके सामने हाथ जोड़कर खड़ी हो गईं। शन्नो ने हीरी को गले लगा लिया। हीरी की सिसकियाँ बँध गईं। उसकी माँ ने आँचल से अपने आँसू पोंछे। शन्नो ने हीरी को अपने गले से सोने का हार निकालकर पहना दिया।

"ये क्या?" हीरी ताज्जुब में रह गई।

"रख ले...। मेरे किस काम का...।"

"दीदी!..." इसके आगे हीरी से कुछ कहते नहीं बना। न शन्नो से ही हीरी से कुछ कहते बना। दोनों ने एक-दूसरे को प्यार से देखा और भावनाओं को समझा।

टी. वी. चैनलवाले सलमा को घेरने आ पहुँचे लेकिन वह अपने मुँह

पर दुपट्टा लपेटकर, सबकी नज़र बचाकर किसी तरह हाई कोर्ट के वरांडे में भागती-दौड़ती भीड़ में शामिल होकर ऊपरी मंज़िल की सीढ़ियों की तरफ़ बढ़ ली।

थोड़ी देर बाद धड़ाम से एक आवाज़ आई और हाई कोर्ट के प्रांगण में औंधे मुँह गिर पड़ा शन्नो का शरीर। फटे हुए सर से रिसता हुआ ताज़ा ख़ून जो उसके बालों को भिगोता हुआ फर्श पर बहे जा रहा था। चारों तरफ़ भीड़ जमा हो गई। शन्नो ख़त्म हो गई। टी. वी. और अख़बारों ने सलमा की ख़ुदकुशी की ख़बर दी लेकिन गाँव में उसे सलमा के नाम से कौन जानता था! और वैसे भी अपने गाँववालों के लिए तो वो कब की मर ही चुकी थी।

छत

'ये डेढ़ सौ रुपए भेज रहा हूँ। छत की मरम्मत का काम शुरू करवा दीजिए।' खत में बस इतना ही लिखा था। 1960 का ज़माना था। डेढ़ सौ रुपए काफ़ी होते थे। कारीगर दस रुपए रोज़ लेता था, सीमेंट की बोरी बीस रुपए की आती थी और रेती एक रुपया गधा।

प्रदीप, बाबू कामता प्रसाद का इकलौता बेटा था। उसको उन्होंने बहुत जतन से पढ़ाया था। अब उसकी नौकरी लग गई थी। पुश्तैनी ज़मींदारी थी लेकिन बटिया पर काम देते तो कामगार आधा ले जाते आधा कहते 'चोरी हो गया।' हाथ तो कुछ आता नहीं था। ख़र्च अलग। इसलिए हालत ख़स्ता से ख़स्तातर हो चुकी थी। मकान पुराना और बहुत बड़ा था। मकान क्या हवेली कहिए। तीन मंजिलें, अठारह कमरे, चार आँगन, पाँच छतें, दो पौर, चार दालानें, तीन गुसलखाने, एक घोड़ा गाड़ी रखने की जगह, आगे-पीछे के दरवाज़े और उनके फैले हुए चबूतरे। मकान इतना बड़ा था कि झाड़ू लगाने वाली कोई आती तो देखकर ही या तो भाग जाती या फिर यह तय कर लेती कि रोज़ाना पूरा घर नहीं बुहारेगी। एक दिन एक हिस्सा दूसरे दिन दूसरा हिस्सा। मरम्मत और पुताई यों तो हर साल दीवाली के दौरान हुआ करती थी लेकिन इधर चार-पाँच सालों से ज़रा तंग दस्ती थी। जिस दालान में झूला पड़ता था उसके ऊपर बारिश में जरा-जरा पानी थमने लगा था। छत बैठ सकती थी। इसलिए पहले एक फिर दूसरे साल दो शहतीर आड़े करके लगा दिए गए थे। लेकिन इस बरसात में वह भी काम न आते इसलिए कामता प्रसाद ने अपने लड़के प्रदीप कुमार को लिखा और प्रदीप ने जो रक़म माहवार घर चलाने के लिए भेजता था, उसके साथ डेढ़ सौ रुपए और भेज दिए। प्रदीप की हाल ही में नौकरी लगी थी और उसकी आमदनी अच्छी थी। सरकारी नौकरी थी, ऊँचा ओहदा था। बारह सौ तो तनख्वाह थी, उसके ऊपर क़रीब-क़रीब इतनी ही उसकी और आमदनी थी। रुतबा अलग।

मिस्त्री ने काम देखा तो बोला कि यह पुरानी छत है। इसे पहले ऊपर से

खोदना पड़ेगा फिर उस पर नई भरती करके सीमेंट लगाना पड़ेगा। नीचे नई शहतीरें डालनी पड़ेंगी। कम-से-कम दस दिनों का काम बनेगा और चार मज़दूर रोज़ाना लगेंगे। सब कुछ जोड़-जाड़कर क़रीब हज़ार डेढ़ हज़ार का ख़र्च बनता था। कामता प्रसाद ने सोचा अगर इतना ख़र्च है तो जल्दी क्या है, बरसात में अभी दो महीने बाकी हैं, प्रदीप अगले महीने छुट्टियों में आ ही रहा है बैठकर तय कर लेंगे। इसके जवाब में प्रदीप ने लिखा कि ख़र्च की कोई बात नहीं काम शुरू करा दें ताकि जब वह छुट्टियों में आए तो छत पूरी तरह बन चुकी हो।

काम शुरू हुआ। मजदूर खोदते थे तो खोदते चले जाते थे। फिर खोदने लगते तो फिर खोदते चले जाते। मिस्त्री का हिसाब ग़लत निकलने लगा। चार दिन का काम छह दिन चला फिर भी बाक़ी रहा। पुरानी छतें थीं। अंदाजा था कि क़रीब एक फुट मोटाई होगी तो छत निकली तीन फुट मोटी। पुराने ज़माने का चूना ठसाठस भरा था। क्या मजाल कि गैंती चले और अन्दर घुस जाए। ऐसी जैसे पत्थर। पिछले पचास सालों में न छतों की मरम्मत हुई थी न कोई खास देख-भाल ...इधर-उधर दरारें भरने की बात और थी। ख़ैर...! काम महीने भर चला। तब तक प्रदीप के छुट्टी पर घर आने का वक़्त हो चला।

प्रदीप छुट्टी में आया तो हफ़्ते भर के लिए। उस हफ्ते में से भी एक दिन वह दिल्ली ठहरा फिर झाँसी आया। झाँसी आया तो पता चला कि दिल्ली में उसने एक लड़की देख रखी है, जिसकी तस्वीर भी वह लेकर आया था दिखाने...। कामता प्रसाद तरक्क़ीपसन्द ख्यालों के आदमी थे लेकिन फिर भी ख़ानदान के बारे में जान लेना ज़रूरी समझते थे। हालाँकि लड़कीवाले भी इत्तेफ़ाक़ से कायस्थ ही थे, लेकिन कामता की नज़रों में बड़े मतलबी ख़ानदान के। और मतलबी लफ़्ज़ से ही कामता को सख़्त चिढ़ थी। कामता कहते थे कि जो मतलब के लिए कुछ करता है वह कुछ भी कर सकता है। बस यह बात हुई नहीं के प्रदीप को तो जैसे देवी चढ़ गई। ऐसी त्योरियाँ चढ़ाकर तमाम उल्टी-सीधी सुना डाली उसने। प्रदीप जब से घर पैसे भेजने लगा था तब से उसकी ज़बान भी चलने लगी थी।

"अपनी हालत देखी है कभी? दूसरों की तरफ़ उँगली उठाते हैं। वे अक्लमंद लोग हैं। आपकी तरह नहीं कि जो लाइफ में कभी कुछ कर ही नहीं पाए। आप क्या समझते हैं आप ने शराफ़त की है? इसे बेवकूफी कहते हैं, बेवकूफी! ...किसानों को आप देख नहीं पाए। कोर्ट-कचहरी आपसे संभले नहीं। बब्बा जो छोड़कर गए वह आपने खा-उड़ाकर खत्म कर दिया। अब घर मुझे चलाना पड़ रहा है। इसे आप शराफ़त कहते हैं? ...इसे बेवक़ूफ़ी कहते हैं! ...उन्हें देखो- तीन लड़कियाँ हैं, उन्हें पढ़ाया-लिखाया, दिल्ली में अपना घर बनाया, सरकारी दफ़्तर में नौकरी की, ऊँचा ओहदा इख़्तिहार किया। आपने क्या किया?"

वाक़ई, कामता प्रसाद सोचते रहे—हमने क्या किया? झाँसी में उस ज़माने में ढंग का कोई स्कूल नहीं था जिसमें जमींदार लाला किशन बहादुर साहब का लड़का-कामता प्रसाद—पढ़ सके। 1925-26 की बात है। छोटी-छोटी रियासतों का ज़माना था। उन राजाओं को भी यही मुश्किल दरपेश थी...कहाँ पढ़ाएँ अपने लड़कों को। इसलिए पन्ना तहसील में सब राजाओं-रजवाड़ों और ज़मींदारों ने मिलकर एक स्कूल खोला जिसमें आला दर्जे के मास्टर रखे गए। शिकार के, खेलों के, घुड़सवारी के तमाम इंतेज़ामात किए गए। कामता प्रसाद भी उसी में पढ़े। राजे-रजवाड़े साथ पढ़ते थे तो ज़ाहिर है दोस्त भी वे ही बने। कामता की बातों में रस टपकता था। उन्हें सुनने के लिए लोग महफ़िलें लगाते थे। राजा वह थे नहीं इसलिए उन्हें राजा नहीं बुलाया जा सकता था, सब उन्हें महाशय जी बुलाने लगे थे।

'महाशय जी...तुम हमारी रियासत में रहो। जो चाहे करो। मत करो। खाओ। पियो। शिकार खेलो, ऐश करो, लेकिन हमारे साथ रहो।' ऐसे एक नहीं तमाम न्यौते मिले। हर एक को दोस्त चाहिए।

'हमारी बात पर यकीन न हो तो कहो प्रोनोट लिख दें, जहाँ कहो वहाँ दस्तखत कर दें...जो कहो।'

इसी दरमियान कामता प्रसाद की शादी हो गई। उस ज़माने में उन्नीस-बीस साल में तो लड़के की शादी कर दी जाती थी। बाईस के आस-पास बच्चा हो जाता था। सो एक लड़का भी हो गया-प्रदीप। कामता ख़ुद अपने बाप की इकलौती औलाद थे। कामता नहीं माने।

'देखो राजा साहब! प्रोनोट और काग़ज़ात की बात नहीं, तुम दोस्त हो अपने, तुम पर पूरा भरोसा है। रहने को हमें महल मिल जाएगा, खाने के लिए सोने-चाँदी के बर्तन मिल जाएँगे, सवारी के लिए पालकी और पीनस हो जाएगी, हर शाम को नाच-गाना हुआ करेगा, सैर-सपाटे, शिकार और ऐश में ज़िन्दगी गुज़र जाएगी। सो तो ठीक है...।'

'तो और क्या चाहिए आदमी को यार?'

'मैं अपने पिता का इकलौता लड़का हूँ...उनका क्या होगा! ...उनके तईं

भी तो अपना फर्ज़ बनता है।'

'अब लेयो, यह भी कोई बात हुई। पिता तुम्हारे हैं तो क्या हमारे न हुए। उनके समेत आ जाओ भाई।'

'वे न आए तो? उन्हें अपना घर अपनी ज़मीनें छोड़ना मंजूर न हुआ तो?'

'हम मना लाएँगे। चच्चा हमारी ज़रूर मानेंगे।'

'और हमारे बीबी बच्चे?'

'तो हमारे भी तो बीबी बच्चे हैं यार। वे साथ में हँसी-खुशी रह लेंगे।'

जब बहुत ज़ोर ज़बरदस्ती होने लगी और कॉलेज की पढ़ाई खत्म कर के घर जाने का वक़्त आ गया तो कामता ने कहा 'अच्छा मैं घर जाकर ख़त लिखूँगा।' कुछ दिन तक ख़तोकितावत का सिलसिला चला लेकिन फिर कामता ने उन रजवाड़ों से रिश्ते ख़ुद ही धीरे-धीरे क़ता कर लिए।

'अगर मैं उस वक़्त उन राजाओं की बातों में आकर किसी रियासत में बस जाता तो मेरे बाप और बीवी को तो कुछ नहीं होता, बल्कि वे बहुत खुश होते, लेकिन मेरा लड़का प्रदीप आवारा निकल जाता।' बहुत दिनों बाद कामता के मुँह से निकला था।

कामता प्रसाद के बाप लाला किशन बहादुर जमींदार भी थे और शहर के नामी वकील भी थे। वे चाहते थे कि उनका बेटा इलाहवाद जाए, क़ानून की डिग्री हासिल करे और उनकी लगी लगाई गद्दी सँभाले ताकि वे आराम से नाती खिलाएँ और राम से नाता जोड़ें। वे मंसूबे उनके कभी पूरे नहीं हुए। कामता प्रसाद का रुझान ही नहीं था वकालत की तरफ़। वह प्रेमी आदमी थे। शेर-ओ-शायरी, पक्का संगीत, कला और साहित्य में उनकी रुचि थी। आज की बात होती तो चल जाता, लेकिन 1930-35 के आस-पास यह बात कोई कैसे मान लेता।

कामता वकील नहीं बन पाए। यह ग़म किशन बहादुर के दिल में बैठ गया और क्योंकि दिल में वे कुछ रखते नहीं थे इसलिए वे बराबर इसे बाक़ायदा चिल्ला-चिल्ला कर गालियों के मसाले में डुबो-डुबोकर सारी ज़िन्दगी कामता को हर मौके पर सुनाते रहे। माँ थीं नहीं। कामता को ले-देकर एक ही सुख था वह थी उनकी पत्नी। ख़ूबसूरत थीं। अच्छे घर की थीं और कामता को हर हाल में सहारा देती थीं। कामता उसी के सहारे जी रहे थे। लेकिन क़ुदरत का दस्तूर है कि जब सब कुछ ठीक-ठाक चलने लगे तो कुछ ऐसा होना चाहिए कि सब कुछ गड़बड़ा जाए ...इसलिए जब प्रदीप की उम्र कोई सात-आठ साल की होगी कामता की पत्नी पागल हो गईं। लोगों ने कहा कि अच्छे-ख़ासे परिवार की

खुशियाँ देखकर किसी ने कोई करणी कर दी है। किसी ने कहा किशन विहारी ने किसी निर्दोष को सज़ा करवाई है इसलिए उसका श्राप लगा है। किसी ने कहा कामता और उनकी पत्नी में वहुत प्यार था इसलिए उसे नज़र लग गई। किसी ने कुछ भी कहा हो लाला किशन वहादुर ने इसके लिए भी कामता की ही बेवक़ूफी और जहालत को ज़िम्मेदार ठहराया। 'इतनी अच्छी वीवी भी नहीं सँभाल पाया कम्बख़्त।' और फिर किशन वहादुर का सारा प्यार हमेशा के लिए बहू पर उमड़ने लगा और कामता हमेशा के लिए गालियों के अधिकारी हो गए।

उस वक़्त कामता ने घर के बर्तन तक धोने से लगाकर प्रदीप के बाल ओंछने तक का सारा ज़िम्मा निभाया। प्रदीप की माँ आठ साल और रहीं। इलाज उन पर कोई कारगर नहीं हुआ और जब वह मरीं तव वेतरह पागल हो चुकी थीं। लोगों ने तमाम कहा कि दूसरी शादी कर लो लेकिन कामता नहीं माने। वोले 'अगर दूसरी बीबी ग़लत निकली तो प्रदीप का भविष्य ख़तरे में पड़ जाएगा।' बहरहाल जब उसकी माँ मरीं तो प्रदीप उस वक़्त सोलह साल का हो चुका था और उसने इंटरमीडिएट पास कर लिया था। अभी तक तो कोई चारा नहीं था लेकिन अब कामता ने प्रदीप को सबकी मर्जी के ख़िलाफ इस माहौल से दूर विश्वविद्यालय में इंजीनियरिंग पढ़ने भेज दिया। तमाम कोहराम हुआ कि लड़का वकील बनाना चाहिए। कामता ने कहा 'जब लड़का वकील बनना ही नहीं चाहता, इंजीनियर बनना चाहता है, तो ज़बरदस्ती क्या है। उसे वही बनने दो जो वह चाहता है।' इस तरह प्रदीप इंजीनियरिंग पढ़ने चला गया। पाँच साल बाहर पढ़ा। फ़ीस अच्छी-ख़ासी थी। खेती तो ख़ैर नाम की थी। किशन बहादुर उसके बाहर जाने के बाद एक साल और चले फिर चल बसे। कामता अकेले रह गए। पहले तो घर में रखे हुए ज़ेवरात बेचे गए। फिर जब कुछ खास बचा नहीं तो गाँव की ज़मींदारी बेच दी गई। लोगों ने कहा 'कामता यह क्या कर रहे हो भाई। गाँव बेच दिया।' वह कहते– 'जमीनें बेची हैं। पूरा गाँव का गाँव अब खड़ा कर रहा हूँ।' प्रदीप ही उनकी ज़मींदारी थी। प्रदीप ही उनकी पूँजी। प्रदीप ही उनकी आशा। और आज वही प्रदीप उनसे पूछ रहा था, '...आपने क्या किया?'

कामता तरक़्क़ीपसन्द आदमी थे। नई-नई बातों की ख़बर रखते थे। आज़ादी आ चुकी थी। उन्हें उस स्कीम के शुरू होने का पता चला जिसमें सरकार होनहार विद्यार्थियों को पढ़ने के लिये कर्ज देती थी जो 'पढ़ाई पूरी करने के बाद क़िस्तों में अदा किया जा सकता था। कामता ने जाकर अफसर

से भेंट की। ज़्यादा लोगों को यह बात मालूम भी नहीं थी और उस ज़माने में ज्यादातर लोग क़र्ज़ लेते भी नहीं थे इसलिए प्रदीप को क़र्ज़ा मिल गया। प्रदीप इंजीनियर बन गया और अच्छा विद्यार्थी होने के नाते उसे सीधे विश्वविद्यालय से ही नौकरी के लिए चुन लिया गया। कामता ने जैसे गंगा नहा लीया।

प्रदीप अपने पैरों पर खड़ा हो गया। होनहार इतना कि घर में पैसे भेजने लगा और अपनी पढ़ाई के लिए लिया गया कर्ज भी अदा करने लगा। उसी चक्कर में अब तक जिन बातों पर ध्यान नहीं दिया जाता था उन पर भी नज़र जाने लगी। जैसे कि घर में घुसने के लिए जो लकड़ी का फाटक था और सड़ गया था उसे नया लोहे का बनवा कर लगवा लिया गया। तुलसी घर की मरम्मत करा ली गई और इस छत का काम भी शुरू हो गया।

'अभी तो मैं एक हफ़्ते के लिए आया हूँ कि देख लूँ क्या इंतज़ाम करना है...लेकिन दीवाली में पूरे बीस दिन कि छुट्टी लूँगा और उसी में आकर शादी करूँगा।' प्रदीप ने कहा।

'शादी?' कामता देखते रह गए।

'कहा तो कि यह लड़की है। अच्छा घरबार है। आपको इसमें क्या ऐतराज़ हो सकता है।'

'ऐतराज तुम्हारी किसी बात में नहीं है लेकिन नियम तो यह है कि लड़की वाले आते हैं रिश्ता लेकर...'

'अरे वह सब बेकार की बातें हैं...उन्होंने कहा या मैंने कहा बात तो एक ही है।'

'कम-से-कम शिष्टाचार के तौर पर उन्हें ख़त तो डालना चाहिए था।'

'क्या फ़िज़ूल की बात करते हैं आप।'

कामता चुप हो गए।

फिर बात ख़र्चे की आई तो प्रदीप बोला कि शादी ज़रा अच्छी तरह होनी चाहिए।

इसके लिए तय हुआ कि किराए पर जो छोटा मकान चढ़ा रखा है, उसे बेच दिया जाए।

मकान का सौदा हो गया। छत भी ठीक हो गई। दीवाली भी क़रीब आ गई। सफ़ाई-पुताई का काम चल रहा था। बहुत दिनों बाद इस घर में शादी थी तो जो आ सकते थे, दूर-दराज़ के रिश्तेदार, वे भी धीरे-धीरे आने लगे। एक दिन शाम को जिसने मकान ख़रीदा था उसकी बीबी भी आई और औरतों के साथ

उसने भी मिल कर गाना-बजाना किया। फिर आँगन में बैठी छज्जों और छतों की तरफ़ इत्मीनान से देखकर बोली, 'बस शादी हो जाए तो यह मकान अपना। ले तो अभी ही लेते लेकिन शादी है इसलिए सोचा ज़रा रुक लिया जाए।'

बात रात तक कामता ने सुनी। पहले तो बात उनकी समझ में नहीं आई। फिर न जाने किस ख़्याल से उन्होंने करारनामा देखा। बस उसके बाद उनकी हालत जो बुझी सो बुझती ही गई। न ठीक से खाते थे न बात करते थे, न ठीक से सोच पाते थे न सो पाते थे। रात-रात-भर छतों पर टहलते रहते जैसे सोच रहे हों अब क्या करें। ग़लती बहुत छोटी लेकिन उसका रूप बहुत भयानक। मोहल्ला वही, सब कुछ वही लेकिन मकान नम्बर अदल-बदलकर छप गए थे। 45 नम्बर बेचना था तो उसकी जगह 74 टाइप हो गया था जिसमें रहते थे। यानी ख़रीदार की बीबी ने ठीक कहा था, उसकी नीयत बदल गई तो वह उस मकान के बदले यह मकान ले सकती थी। कामता ने कई बार सोचा की ऐसी ग़लती उनसे हो कैसे गई। उनकी समझ में कुछ नहीं आया।

शादी हुई। अच्छी तरह। प्रदीप का तो अच्छी तरह सत्कार हो गया, वह तो होना ही था, कामता और बारातियों की तरह ही रह गए। जिस दिन बरात विदा कराके वापस आई, उस दिन सुबह चार बजे गाड़ी झाँसी स्टेशन पर आ जाती थी इसलिए ठहराया यह गया कि कामता और बाक़ी सब लोग घर चले जाएँ और बाजे-गाजे से दूल्हा-दुल्हन के स्वागत-परछन के लिए तैयार हो लें। दूल्हा-दुल्हन सुबह होने के बाद घर पहुँचेंगे।

सुबह के आठ बजे होंगे। नवम्बर का महीना था। हवा में हल्की-हल्की ख़ुनकी थी। दरवाजे के बाहर शहनाई के सुर गूँज रहे थे। दरवाज़े पर कामता खड़े थे। कामता ने प्रदीप को उसकी बहू के साथ गाड़ी से उतरते देखा तो उनके आँसू उमड़ पड़े। रोके न रुके। उनके मन में न जाने कितने अक्स आ-जा रहे थे। इस दिन के लिए उन्होंने क्या-क्या नहीं किया देखा। एक तरफ़ सीना फूल रहा था, दूसरी तरफ़ आँखें। प्रदीप ने यह देखा तो उसने उनकी तरफ़ इस हिकारत से देखा कि कामता एक मिनट के लिए डर से गए। आँसू थम गए, भावनाएँ जम गईं।

बहू के क़दम कहिए या शहर के लोगों में कामता प्रसाद का रुतबा कहिए मकान नम्बर 45 का ख़रीदार आकर ख़ुद ही इक़रारनामा भी ठीक कर गया। शादी की गहमागहमी भी थम गई।

प्रदीप के वापस जाने से चार रोज़ पहले कि बात होगी। सुबह का वक़्त

था। बहू सो रही थी। कामता प्रसाद टहल कर लौट आए थे और झूले वाली दालान में बैठे अपने लिए पान लगा रहे थे कि प्रदीप आकर सामने बैठ गया।

'यह मकान का क्या चक्कर है? दस्तावेज़ में नंबर बदल गए?'

'हाँ, बड़ी छोटी-सी बात थी लेकिन परेशान कर डाला इसने।'

'छोटी-सी बात! यह छोटी-सी बात है? इसे आप छोटी-सी बात कहते हैं? आपको मालूम है आज हम उस एक कमरे के मकान में रह रहे होते और यह मकान जरा से पैसों में उसके क़ब्ज़े में होता...।'

कामता चुप। प्रदीप बाक़ायदा अच्छी-ख़ासी टोन में डाँट रहा था। लेकिन अब तक कामता को इसकी आदत पड़ चुकी थी।

'मेरी समझ में नहीं आता कि आप कर क्या सकते हैं। ...सारी ज़िन्दगी आपसे कुछ भी नहीं हो सका?'

कामता चुप।

'क्यों, आप आज मुझे बताएँ कि आख़िर क्यों नहीं कर पाते आप कुछ?'

'....'

'आपने क्या किया? जो था वह खा-उड़ा दिया। एक अच्छी-ख़ासी बीबी थी उसे भी आपने पागल कर दिया। मार डाला। और ये सब अपनी बेवक़ूफ़ियों की वजह से।'

'....'

'अगर मुझे वह सरकारी क़र्ज न मिलता तो मैं तो पढ़ ही नहीं सकता था। अगर यह छोटा वाला मकान न बचा होता तो मेरी शादी ही न हो पाती। और अगर मैंने यह लड़की न देखी होती तो शायद मेरी शादी ही न होती। कैसे बाप हैं आप...।'

कामता ने पान लगाना रोककर कनखियों से प्रदीप को देखा, बस! फिर नज़र नीची किए सुनते रहे।

'...मेरी शादी हो रही है। ख़ुशी का मौक़ा है...और आप रो रहे हैं। यह कोई ख़ुश होने का तरीक़ा है। क्या पता लोग समझने लगें कि आपको मैंने कोई कष्ट दिया है। मैंने तो हमेशा आपको आराम ही देने की कोशिश की है।'

कामता की झुकी आँखों से एक बूँद टपकी और पान में गिर गई। पान पर जमा कत्था उतनी जगह सफ़ेद पड़ गया।

रात को सर्दियों की पहली बारिश हुई। सुबह तक छत से कुछ-कुछ पानी टपकने लगा।

सड़क

मिश्रीलाल कुशवाहा ने भाजी-तरकारी का ठेला लगाने से लेकर मँगौड़ी बेचने और फिर उसके बाद दूध की दुकान लगाने तक के कई काम किए। दूध की दुकान थोड़ी-बहुत चलने लगी तो उन्होंने उसी को स्थाई रूप से चलाना ठीक समझा। थोड़े दिनों बाद जब ज़रा काम बढ़ा तो उसमें उन्होंने खोया रखना शुरू कर दिया और फिर बाद में रबड़ी भी घोंटकर बेचने लगे। वे गाँधी जी से बहुत प्रभावित थे और उन्होंने 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में जमकर हिस्सा लिया था। आन्दोलन में उनके तमाम साथी जेल तक हो आए थे ये न जाने कैसे बच गए थे और इस बात का उन्हें बहुत मलाल था। लड़का मिश्रीलाल के एक था—मुसद्दीलाल। मुसद्दीलाल के नाम से 'कुशवाहा' उन्होंने जान-बूझकर उड़वा दिया था। स्कूल वालों ने नाम लिखते समय पूछा 'सरनेम?' तो मिश्रीलाल ने कहा 'नाम से काम रखो। भारत अब आज़ाद देश है, ज़ात-पात का भेद मिट चुका है। सब एक हैं इसलिए सिर्फ नाम से काम रखो' और इस प्रकार मुसद्दीलाल कुशवाहा सिर्फ मुसद्दीलाल रह गए।

मुसद्दी पढ़ने-लिखने में जितने कमज़ोर थे दूध औंटाने और रबड़ी घोंटने में उतने ही मुस्तैद। दुकान पर बैठना अपनी शान समझते थे और बाप के काम में हाथ बँटाना अपना फ़र्ज़। न्यायप्रियता और देशप्रेम के जज़्बे इन्हें विरासत में मिले थे और अन्याय का अहिंसात्मक तरह से विरोध करना इन्होंने गाँधी जी की बातें सुन-सुनकर आत्मसात कर लिया था।

जब मुसद्दी इंटरमीडिएट में तीसरी बार फेल हुए तो मिश्रीलाल की समझ में आ गया कि लड़के के लक्षण आगे पढ़ने के नहीं हैं। वैसे उस ज़माने तक आजादी आए बीस-पच्चीस साल हो चुके थे और मिश्रीलाल की समझ में आ चुका था कि देश किस दिशा में जा रहा है। वे समझ चुके थे कि पढ़ने-लिखने की बजाय मुसद्दी का किसी हुनर में पारंगत होना ही ठीक है। मुसद्दी दुकानदारी में तो माहिर थे ही। मिश्रीलाल ने धीरे-धीरे दुकान की सारी ज़िम्मेदारियाँ मुसद्दी की ओर कर दीं। मुसद्दी ने दुकान में पहले रसगुल्ले और फिर बाद में

सुबह-सुबह जलेबियाँ और फिर दोपहर में समोसे भी बनवाने शुरू कर दिए। मिश्रीलाल को लड़के पर फख़्र होने लगा। लड़का व्यवहार कुशल था, इसलिए आस-पास वालों से भी उसके ताल्लुक़ात अच्छे बनते गए और ग्राहकी भी बढ़ती गई। लेकिन वहीं सामान बनाना, वहीं सजाना, वहीं बेचना, उस पर तीन-चार नौकर भी वहीं– इसलिए अब ये दुकान छोटी पड़ने लगी थी। बग़लवालों से पूछा गया कि 'बेचते हो क्या?' लेकिन दुकान बेचने वाला कोई न मिला तो मुसद्दी ने सोचा इस दुकान को बढाने कि बजाए क्यों न एक बड़ी दुकान ऐसी बस्ती में ले ली जाए जहाँ बड़े-बड़े पैसे वाले ख़रीदारी के लिए आते हों। वहाँ सामान महँगा भी बिकेगा और आमदनी भी अच्छी होगी। मानिक चौक शहर का मुख्य मार्किट था। वहाँ से सड़क जहाँ गंज की तरफ़ मुड़ती थी, वहीं ऐन कोने पर एक बड़ी-सी दुकान तय की गई। दुकान सड़क पर चार सीढ़ियाँ चढ़कर थी। बड़ा-सा नक़्क़ाशीवाला मेहराबदार पुराने तरीके का दरवाज़ा फिर एक बड़ी हॉलनुमा दलान-सी, पीछे की तरफ़ भट्टी लगाने और माल बनाने की भी जगह थी। दुकान महँगी थी लेकिन मुसद्दी को पसन्द आ गई और इन्होंने उसे पक्का कर लिया। अच्छा दिन देखकर पिता मिश्रीलाल के हाथों नारियल फुड़वाया गया। पंडित जी से सत्यनारायण भगवान् की पूजा करवाई गई और दुकान पर मुसद्दीलाल मिठाईवाला बोर्ड लगाकर शुभारम्भ किया गया। ग्राहक तो बँधे थे ही, दुकान चलने में कोई परेशानी नहीं हुई। हाँ, थोड़ी सी परेशानी ये थी कि जिस सड़क पर ये दुकान थी उसकी हालत ख़स्ता थी। ये मानिक चौक से गंज की ओर जाने वाली सड़क रही तो मुश्किल से दो सौ गज़ की ही होगी, लेकिन उसे तय करने में लोगों को कुछ नहीं तो बीस मिनिट से कम नहीं लगता था। इसलिए नहीं कि वहाँ दुकानें ज्यादा थीं और ख़रीदारों की भीड़ होती थी। बल्कि इसलिए की सड़क गड्ढों और ख़ुदाई के कारण इस अवस्था में थी कि उसे सड़क कहा ही नहीं जा सकता था, लगता यों था कि जैसे किसी ने समुद्र के नीचे की ज़मीन का मॉडल बनाया हो। वहाँ से साइकिल हाथ में लेकर भी नहीं गुज़रा जा सकता था। और ये जब था जब के सड़क पर की दुकानें मेन मार्किट थीं और सड़क के आस-पास बड़े-बड़े लोगों के मकान थे। शहर के मशहूर वकील कामता प्रसाद का मकान भी उसी सड़क पर था। वे कई बार इस बारे में बड़े-बड़े अफसरों से अनौपचारिक सभाओं और जलसों में भी चर्चा कर चुके थे। दुकान में आने वाले ग्राहकों की तकलीफें देखते हुए मुसद्दीलाल ने कई बार नगरसेवकों से भी विनती की थी। ब्रह्मदत्त जी समाज-सुधारक और सामाजिक कार्यकर्ता होने का दम भरते थे, उन्होंने भी कई बार इस बारे में कलक्टर तक को अवगत करवाया। हुआ-हवाया कुछ नहीं। जो दशा दस साल से चली आ रही थी उसी में अपनी-अपनी तरह सब गुज़र कर रहे थे। हाँ, ये नहीं कि सड़क के बारे में नगर पालिका कुछ करती ही न हो! हर साल नए सिरे से मरम्मत के टेंडर मँगवाए जाते, ठेके दिए जाते। फिर बारिश आ जाती और काम रोक दिया जाता। उसके बाद पता नहीं क्या होता की अखबारों में फिर से टेंडर निकलते! क़रीब-क़रीब हर डेढ़-दो साल में कलक्टर तब्दील हो जाता। शिकायतों का सिलसिला नए सिरे से फिर शुरू किया जाता, लेकिन अमल तक पहुँचने से पहले नए 'साहेब' आ जाते। हाँ! इस बार महेश आनन्द दो साल से जमे हुए थे। गोरे चिट्टे, हँस-मुख, दिल फेंक और मज़ाहिया नौजवान। इस डी. एम. के नाम से कमिश्नर, तहसीलदार, नायब, नगर पालिका, अख़बारवाले, वकील ग़रज़े के सभी दम भरते थे। शहर में मुसद्दीलाल की दुकान मिठाई के लिए मशहूर थी और जैसे और लोग इस दुकान की मिठाई को बेहतरीन मानकर ख़रीदते थे, शहर के अफ़सरान भी ख़रीदते थे। महेश आनन्द की बीवी जब भी सामान लेने ख़ुद शहर की तरफ़ जातीं मुसद्दीलाला की दुकान से कुछ-न-कुछ ज़रूर लातीं। उसी सिलसिले में एक बार बीवी के साथ जब महेश आनन्द भी मुसद्दी की दुकान पर आए तो अपनी ख़ातिर तवाज़ा और मुसद्दी की मिठाई की तासीर देखकर ख़ुद भी फ़िदा हो गए। बोले- "मुसद्दी, ... भाई वाह !...मिठाई तो तमाम शहरों में खाई लेकिन तुम्हारा जवाब नहीं। तुम तो मथुरा तक को मात कर रहे हो!"

"आपका बड़प्पन है हुज़ूर!"

"कभी-कभी कोई नई मिठाई बनाओ तो ज़रूर भिजवा दिया करो। पैसे हम देंगे। हम मुफ्त में किसी से कुछ नहीं लेते...हाँ... !"

"अरे पैसे की बात नहीं हुज़ूर...वादा रहा ताज़ा माल आपको मिल जाया करेगा।"

उसी सिलसिले से मुसद्दीलाल अक्सर अपनी मिठाई कलक्टर महेश आनन्द के घर भिजवा दिया करते थे। मिठाई के पैसे न मुसद्दी ने कभी माँगे और न महेश आनन्द ने कभी पूछे न दिए। इसी बहाने मुसद्दी महीने में एक आध बार 'साहेब' के बँगले पे अपनी हाज़िरी भी लगा आया करते थे।

महेश आनन्द ने इस सड़क के बारे में काफी 'इंटरेस्ट' दिखाया। नगर पालिका से कहकर काम शुरू करवाया। अब काम चल रहा था तो कोई कुछ

बोल भी नहीं सकता था। लेकिन जब से काम शुरू हुआ था, तब से सड़क की हालत और बुरी तरह ख़राब हो गई थी। पहले जहाँ यही सड़क बीस मिनिट में तय होती थी अब आधे-आधे घंटे ट्राफिक जाम रहता। कई लोगों ने तो इस रास्ते से आना-जाना ही छोड़ दिया। कामता प्रसाद की प्रैक्टिस पर असर पड़ने लगा। कुछ सब्जी और फलवालों ने तो वहाँ से अपने बाँकड़े हटा लिए। ब्रह्मदत्त जी को कलक्टर ने अपने घर आने की खुली छूट दे रखी थी सो लोग उनसे शिकायत करते रहते और वे उन शिकायतों को रोज़ आनन्द साहेब के पास पहुँचते रहते। अग़ल-बग़ल के दुकानदार मुसद्दीलाल को अपना अगुआ समझते थे, इसलिए उन्होंने उनसे कहा कि आपका तो कलक्टर से मिलना-जुलना है आप ही क्यों नहीं कुछ ज़िक्र करते। मुसद्दीलाल ख़ुद परेशान थे। उनकी मिठाई बिक्री में फ़र्क़ पड़ने लगा था। बहुत सोचा के कहाँ एक हलवाई और कहाँ कलक्टर साहेब! अरे, उनका बड़प्पन है कि मोहब्बत से मिल लेते हैं या मिठाई कुबूल कर लेते हैं। दो-एक महीने तो वो टालते रहे लेकिन फिर मामला पगड़ी पे आ गया। लोगों ने कहना शुरू किया कि मुसद्दी बातें करते हैं इनका आनन्द साहेब से कोई मेल-जोल नहीं है, ये केवल अपनी मिठाई चपरासी को पहुँचा कर आ जाते हैं। इज्ज़त पे आन पड़ी तो एक शनिवार की शाम को मुसद्दीलाल ताज़े छेने की मिठाई लिए बँगले पर पहुँच गए। आधे घंटे के इंतज़ार के बाद आनन्द साहेब मिले तो कहीं जा रहे थे। ड्राईवर दरवाज़ा खोले खड़ा था। पत्नी पहले तो बार-बार अपना पल्लू ठीक करती रहीं फिर गाड़ी में जाकर बैठ गईं। मुसद्दी ने देखा कि अगर सड़क का ज़िक्र नहीं किया तो आना बेकार हो जाएगा। बोले–"हुज़ूर!...आजकल ग्राहकी कम हो रही है!"

"अरे...क्यों...?...। मिठाई तो तुम्हारी अच्छी है!"

"उस सड़क से हुज़ूर लोगों ने आना-जाना कम कर दिया है।"

"क्यों?"

"उसकी हालत पहले से भी ज्यादा ख़स्ता हो गई है।"

कलक्टर साहेब गाड़ी में बैठने लगे। मुसद्दी दरवाज़े के काँच के पास जाकर खड़े हो गए। बोले- "अगर हुज़ूर एक बार मुआयना कर लेते तो शायद ठेकेदारों पर कुछ वज़न पड़ता...।" बात पूरी भी न हो पाई थी की एक गाड़ी हॉर्न बजाती हुई बँगले के अन्दर घुसी। आनद साहेब ने उधर देखा। दूसरी गाड़ी से सड़क के ठेकेदार को दोस्ताना अन्दाज़ में उतरते देखकर मुसद्दी इधर-उधर ताकने लगे। आनद साहेब गाड़ी से उतर गए। उनकी 'पत्नी आप लोग बैठिए, मैं चाय बनवाती हूँ'– कहती हुई अन्दर चली गईं। आनन्द और ठेकेदार दोनों हाथ मिलाते ऐसे अन्दर चले गए जैसे मुसद्दी वहाँ हों ही नहीं। थोड़ी देर तो वे खड़े रहे। फिर चौकीदार सवाल करने लगा तो वापस आ गए। उस रात मुसद्दी को नींद नहीं आई। पिछले दो साल से क़रीब-क़रीब हर महीने चार-पाँच सौ की मिठाई उनकी दुकान से कलक्टर के यहाँ जाती थी। यानी जिसने उनकी इतनी मिठाई खाई उसी ने उनकी ये औक़ात बताई कि उनके लिए दो लफ़्ज़ का समय नहीं! पैसे के साथ-साथ इज्ज़त पे भी चोट पड़ी थी। दुकानदारों को तो ख़ैर उन्होंने समझा दिया के वे कलक्टर साहेब से बोल आए हैं कि वे सड़क का मुआयना करें। लेकिन अपने दिल में ये लगी थी कि इस मुआयने से होगा क्या! जिस पर दबाव डालना था वो तो उनके घर का आदमी बना बैठा है!

होली के दौरान शहर के तमाम बड़े-बड़े दुकानदारों, अख़बारवालों, नामी लोगों, अफ़सरों वग़ैरह का एक मिलन समारोह क़िले के मैदान में हर साल होता था। इस साल भी होना तय था। दिन भर होली खेली जाएगी शाम को मिलन समारोह। सदारत कलक्टर आनन्द को करनी थी।

एक दिन पहले, जिस दिन होली जलनी थी उस दिन, नौजवानों में तमाम जोश रहा। इधर-उधर से लकड़ी लाई गई, तमाम हरे-हरे पेड़ काटे गए, किसी की खिड़की उखाड़ी गई, किसी के दरवाज़े पर ज़ोर मारा गया। गली-गली में नारे गूँजते रहे–'होली का भड़ुआ दिवाली का चोर!' इसी आपा-धापी में गंज की एक पुरानी हवेली से एक लड़के ने खिड़की की चौखट उखाड़ ली और कोई देख न ले इस डर से भागा। भागा तो उसी ऊबड़-खाबड़ सड़क से होता हुआ। जल्दी-जल्दी में एक साइकिलवाले से टकराया और उछलकर धड़ाम से गिर पड़ा। चौखट एक किनारे, साइकिल के ऊपर साइकिल वाला और लड़का गड्ढे में। इस तरह के वाक़यात होते रहते थे, इसलिए किसी ने कोई ख़ास ध्यान नहीं दिया, लेकिन लड़का जब दस मिनिट तक उठा नहीं तो कुछ-कुछ भीड़ जमा होने लगी। ब्रह्मदत्त जी भी उस समय बाज़ार में थे। उन्होंने तो ख़ैर आवाज़ सुनी, अपनी ख़रीदारी की ओर चले गए। साइकिल वाला गाली देता हुआ जा चुका था। लड़के को, बहरहाल, जब निकाला गया तो वो बेहोश था। उसे अस्पताल पहुँचाया गया। नौजवानों का जोश ठंडा पड़ गया। आस-पास के दुकानदारों ने मुसद्दी को तमाम सुनाया कि आप डी.एम. साहेब से अपनी पहचान बताते हैं और इतना भी नहीं कह सकते कि वे इस सड़क का कुछ करें! आप न करें, अब हम ही कुछ करेंगे। आख़िर आप बड़े दुकानदार हैं,

धन्धे में ऊँच-नीच बर्दाश्त कर लेंगे। औरों का क्या होगा?" लड़के के चोट लगने और बेहोश हो जाने से मुसद्दी को पहले ही काफ़ी बुरा लगा था उस पर ये ताने! वे एकदम चुप हो गए।

दूसरे दिन होली खेली गई। शाम को समारोह में जाने से पहले मुसद्दी अपने आस पास के दो चार दुकानदारों से मिलने गए। कुछ सोचा-विचारी-सी हुई फिर समारोह में पहुँचे। वहाँ मज़ाहिया कविताओं का दौर हुआ। कुछ नाच-गाने हुए। अख़बारवालों और समाज के ठेकेदारों ने आनन्द साहेब के गुण गाए। कांट्रेक्टर ने अपनी तरफ़ से शहर के विकास के लिए कुछ चंदे का ऐलान किया। वग़ैरह-वग़ैरह...मुसद्दी वहाँ से उठे और बीच में ही चले आए।

दूसरे दिन पुलिस में ख़बर पहुँची कि गंज से मानिक चौक वाली सड़क पर कोई भी सरकारी गाड़ी नहीं जाने दी जा रही है। पुलिस ने ख़बर कलक्टर तक पहुँचा दी। पता लगा आन्दोलनकारियों का अगुआ मुसद्दीलाल है। कोशिश की गई कि मुसद्दी को बुला कर बहला लिया जाए। लेकिन जब मुसद्दी मिले ही नहीं तो सोचा गया कि दुकानदार क्या कर लेंगे!? अपना धन्धा करेंगे कि रास्ता रोकेंगे!?...दो-चार दिन में सब ठीक हो जाएगा। लेकिन ठीक चौथे दिन मामला गड़बड़ा गया। हुआ क्या कि कोतवाली का एक आदमी पुलिस की मोटरसाइकिल पर सवार किसी काम से गंज जाने के लिए इस सड़क से गुज़रा। जहाँ लोगों ने सरकारी मोटर साइकिल देखी, पहले तो लपके रोकने के लिए फिर पुलिस की होने के नाते ज़रा ढीले पड़ गए। कोतवाली का सवार धड़धड़ाता हुआ आया और ट्रैफिक जैम में खड़ा हो गया। फटफटिया फटफटा रही थी। रोकने कोई आया नहीं। मुसद्दी गद्दी से उतरे। उन्होंने आस-पास आवाज़ लगाई। कुछ ने व्यस्त होने का बहाना किया और कुछ आए नहीं। ट्राफिक ज़रा बढ़ने को हुआ की मुसद्दी ने मोटर साइकिल के हैंडल पर हाथ रख दिया। सवार भी ज़बरदस्त शातिर था। बोला, "तुम जानते हो क्या कर रहे हो? ड्यूटी के समय पुलिस की गाड़ी रोकोगे तो सज़ा हो जाएगी।"

आस-पास लोग खड़े होने लगे। मुसद्दी चुप लेकिन हैंडल थामे रहे।

गाड़ीवाला ज़रा चलने को हुआ तो वे पहिये के सामने आकर खड़े हो गए।

"मैंने तुमसे कहा तुम्हें इस जुर्म कि सज़ा का अन्दाज़ा नहीं है।"

अब तक जो आगे-पीछे गाड़ियों में रुके खड़े थे वे भी उतर आए। ख़ासी भीड़ लग गई।

दो-चार दुकानदार भी उतर कर आ गए। मुसद्दी ने देखा अब भीड़ बढ़ गई है।बात का जवाब दिया जा सकता है। बोले, "देख भैय्ये! तू डराने-धमकाने की बातें तो कर मत यहाँ...। अपनी ये सज़ा और क़ानून वाली! क्योंकि एक तो तू पुलिस वाला नईं है और है तो तेरी वर्दी किदर है?...और तू ड्यूटी पे है क्या?...। दूसरे, सरकारी गाड़ी यहाँ से कोई पास होने नईं दी जाएगी। वो चाहे पुलिस की हो चाहे मिनिस्टर की। और ये ख़बर हमने तुम्हारे ज़िलाधीश को करवा दी है। तो अब तो भैय्ये गाड़ी पीछे को घुमाओ और चलते बनो।"

"देखो मैं पुलिस का आदमी हूँ और ड्यूटी पे हूँ।"

"तो फ़ौरन पैदल चले जाओ। जल्दी पहुँचोगे!" आस-पास वाले हँसने लगे। एक ने कहा क्यों भइया, साहेब के लिए भाजी-तरकारी ख़रीदने की ड्यूटी पे हो क्या!" कर्मचारी खिसिया गया। उसने गाड़ी मोड़ ली। वापस जाते-जाते बोला– "अब नतीजा तुम भुगतो।"

कर्मचारी चला गया तो भीड़ छटने लगी। आस-पास के और दुकानदार भी उतर-उतरकर आने लगे। मुसद्दी की दाद देने लगे कि हिम्मत देखो पुलिस की गाड़ी रोक दी और वापस भी भेज दी। हालाँकि पुलिस की गाड़ी जाने के बाद मुसद्दी के माथे पर पसीना झलक आया था कि कहीं सचमुच सज़ावाली बात ठीक ही न हो; वरना धन्धे का क्या होगा, बनी बनाई इज्ज़त मिट्टी में मिल जाएगी। दोपहर तक धुकपुकी लगी रही। क़रीब पाँच बजे एक चपरासी मुसद्दी के पास ये कहता हुआ आया कि कलक्टर साहेब ने बुलवाया है।

"क्यों?"

"सुबह किसी पुलिस की मोटर साइकिल को तुम लोगों ने रोका था। उसी सिलसिले में। जिसको तुम लोगों ने रोका था वो असल में साहेब का ख़ास हवलदार/चपरासी था। साहेब ने कहा है सड़क का मामला बातचीत से हल कर लिया जाएगा।"

मुसद्दी की जान में जान आई। आस-पास के दुकानदार घिर आए। उन्हें मुसद्दी अब 'अपने' लगने लगे–यों के मुसद्दी जो करें जो कहें वो ही ठीक।

मुसद्दी बोले- "उसमें पुलिस की गाड़ी का कोई सवाल नहीं था। सवाल था कि यहाँ से कोई सरकारी गाड़ी गुज़रने नहीं दी जाएगी। बस...! फिर चाहे पुलिस की हो चाहे नगर पालिका की।"

"ख़ैर, साहेब ने बुलवाया है।"

"तो अभी तो आना मुश्किल है!"

जवाब सुनकर चपरासी का मुँह खुला-का-खुला रह गया। दुकानदारों के माथे ऊँचे हो गए। मुसद्दी ने सर झुका लिया। बोले–"साहेब से कहना मेरा उनसे या सरकारी गाड़ीवालों से कोई ज़ाती मामला नहीं है। बात सड़क की है। सो मेरे अकेले के जाए से क्या होगा? ...साहेब यहीं आ जाएँ, सभी से बात कर लें।"

"साहेब से कह दूँ आप हो आईए?"...चपरासी ने आश्चर्य से पूछा।

"अब और क्या किया जा सकता है।"

बूढ़ा चपरासी लोगों के गिरते मूल्यों के लिए 'डिसगस्ट' में सर हिलाता हुआ चला गया।

वो चला गया तो और दुकानदारों को मुसद्दी ने डाँट लगाई, "डरते हो?... पुलिस की गाड़ी देखी तो डर गए। अकेला मैं गाड़ी रोक सकता हूँ क्या?... सड़क मेरे चाचा की है क्या?...अगर सब की है तो सब को मिलकर करना पड़ेगा न...!"

लोगों ने अपनी ग़लती महसूस की। कुछ शर्मिंदा भी हुए। बात फ़ौरन फैल गई। कामता प्रसाद वकील जो कभी किसी से सर हिलाकर बात नहीं करते थे उन्होंने भी मुसद्दी को ख़ास तौर पर बधाई दी। मुसद्दी ने भी दुकान ज़रा जल्दी बन्द की और उस रात वे इत्मीनान से चैन की नींद सोए।

चैन भंग हुआ दूसरे दिन, नोटिस के साथ। नोटिस में असामाजिक गतिविधियों के लिए उन्हें ख़बरदार किया गया था और आगाह किया गया था कि यदि वे अब भी 'ऐसी वैसी' हरकतों से बाज़ नहीं आए तो उन पर सीधे वारंट इशू किया जाएगा और गिरफ़्तारी के साथ मुक़दमा चलाया जाएगा। हलवाई की औक़ात, बनिए का पेशा, मुसद्दी घबरा गए। कामता प्रसाद से ही आस दिखाई दी। वकील साहेब ने कहा, "घबराओ नहीं! मैंने भी मुक़दमे लडते-लडते चाँद गंजी की है। मैं इसका जवाब दिए देता हूँ। छः महीने तो मामला यूँ ही लटका दूँगा। उसके बाद अगर वारंट आ भी गया तो स्टे आर्डर दिलवा दूँगा। कोर्ट में केस चलते-चलते न जाने कितने कलक्टर बदल जाएँगे।"

आस-पास के दुकानदारों में जहाँ एक तरफ़ सड़क न बनाने की साज़िश और कांट्रेक्टर से मिली भगत की भर्त्सना हुई वहीं मुसद्दी के प्रति सहानुभूति और आस्था जताई गई। हर जज़्बे को जैसे न तो लफ़्ज़ों में बयान किया जा सकता है न ही छुपाया जा सकता है वैसे ही बग़ैर किसी विवेचना के इन तीन-चार दिनों में मुसद्दी इस इलाके के अगुआ होकर उभरे।

जोश लेकिन पाँच -छह दिनों में ही ठंडा पड़ने लगा। कुछ छोटे-मोटे दुकानदारों ने आदिम परम्परानुसार इस आन्दोलन से पीछे हटने का मन बना लिया। अरे आन्दोलन करें मुसद्दी!...। मान लिया उन्हें लीडर ...वस हो गया!...हम तो अपना धन्धा करें! हमें झमेले से क्या लेना-देना!

फूट फैलने में कोई ख़ास कसर नहीं बची थी कि ख़बर आई कि गवर्नर साहेब शहर में एक कारखाने का शिलान्यास करने पधार रहे हैं। जहाँ वो कारखाना बनना था वहाँ के लिए गुज़रना उसी ऊवड़-खावड़ सड़क से पड़ता। अब आम जनता की बात और है–भुगते कमबख़्त! लेकिन गवर्नर! उन्हें इस तरह की सड़क से कैसे ले जाया जा सकता था! सो कलक्टर साहेब ने सख़्त आदेश दिया कि सड़क फ़ौरन बनाई जाए। नगर पालिका वाले रातों-रात मौक़े का जायज़ा लेने आए। ठेकेदार के कामगार आकर खड़े हो गए। और उसी तरह अपनी-अपनी दुकानें छोड़कर आकर खड़े हो गए दुकानदार। काम शुरू ही न करने दें। पुलिस बुलाई गई। लोगों को जेल में डाला गया। ब्रह्मदत्त जी लोगों को समझाने आए। लेकिन आन्दोलन और ज़ोर पकड़ता गया। आठ-दस दिन इसी तरह निकल गए। कलक्टर, बहरहाल, ख़ुद आए। पहले हुक्म दिया, फिर दोस्ताना बातें कीं फिर गिड़गिड़ाए। बोले, "देखो। चार-पाँच दिन ही बचे हैं, गवर्नर ऐसी हालत देखेंगे तो मेरी नौकरी का क्या होगा?" लोगों ने पूछा कि ये ख़्याल पहले क्यों नहीं आया। कलक्टर साहेब कि नींदें उड़ गईं। लोग थे कि काम आगे बढ़ने ही न देते थे। बहरहाल! गवर्नर के दौरे का दिन भी आ गया। मजबूरी थी। सड़क तो वही थी। गुज़रना तो वहीं से था। पूरा क़ाफिला मानिक चौक से गुज़रा और जैसे ही उस सड़क के किनारे आया कि सारे दुकानदारों की भीड़ बीचोंबीच खड़ी दिखाई दी। पुलिस ने तितर-बितर करने की कोशिश की। कुछ नहीं हुआ। कलक्टर ने भीख माँगी कि इस वक़्त हट जाओ हम फ़ौरन सड़क बनवा देंगे। लोग क्यों सुनते! लोग बोले हमें गवर्नर से मिलना है। अब बताइए, कहाँ लोग और कहाँ गवर्नर!

"क्यों मिलना है?"

"सड़क की बावत बात करनी है।"

"इतनी छोटी-सी बात के लिए गवर्नर?...कलक्टर से कहो।"

"ये कलक्टर चोर है। ठेकेदारों से पैसा खाता है। ये क्या सुनेगा!"

"क्या बेकार की बातें करते हो।"

"तो ठीक है तुम लोग भी इस बेकार की सड़क से मत गुजरो।"

"तुम लोग दंगे पर उतर रहे हो...हम गोली चलवा देंगे।"

"चलवा दो"

"हट जाओ ...!"

"....।"

"अच्छा! क्या चाहते हो...सड़क न...हम वादा करते हैं सड़क हफ्ते-भर के अन्दर बन जाएगी।"

"अब हम सड़क नहीं चाहते...अब तो हम गवर्नर से मिलकर ही रहेंगे।" इतनी देर हो गई। बेचारे गवर्नर जी ऊब गए। पूछा क्या बात है। मिलने की बात पर सिक्यूरिटीवालों ने अड़चनें लगाईं। लेकिन जब पन्द्रह मिनिट तक न गाड़ी आगे चली न पीछे तो गवर्नर जी नाराज़ हो गए। सिक्यूरिटी भी ठंडी पड़ गई।

"तुम लोग गवर्नर साहेब से मिलना चाहते हो न...तो सब तो जा नहीं सकते, तुम अपने किसी अगुवा को भेज दो...!"

मुसद्दी आगे बढ़ गए। बोले, "चलो।"

गवर्नर ने उनकी पूरी बात सुनी। कलक्टर को बुलाकर डाँटा। इधर-उधर अपने सहयोगियों से इस सड़क की रिपोर्ट उन्हें देते रहने का आदेश दिया। मुसद्दी ने वापस जाकर लोगों को ये सब बताया। तब क़ाफिला वहाँ से निकल पाया।

अब आप कभी अगर वहाँ से गुज़रें तो पाएँगे कि वो सड़क इतनी खुली और इतनी पुख़्ता बनी है कि वैसी चौड़ी सड़क उस शहर में तो क्या अच्छे-अच्छे शहरों में नहीं है। हाँ! आनन्द साहेब बेचारे जब तक असाम के किसी क़स्बे में किसी मामूली ओहदे पर पोस्टेड रहे—इस सड़क को कोसते रहे। अपनी बीवी से अक्सर कहा करते थे, "मुसद्दी जैसा मामूली और दब्बू आदमी ये सब करेगा, मुझे इसकी उम्मीद नहीं थी!"

बेटा! ऐ बेटा...! सुनो तो...

भारतीय भाषाओं में पढ़ी गई भारतीय विद्या आदमी को विद्वान भी बनाती है और संतुष्ट रहना भी सिखाती है। खेती करने वाला या लोहे की नाल बनाने वाला लिखना पढ़ना भी जान सकता है और अपने काम को बख़ूबी अन्जाम भी दे सकता है। दूसरों का लिहाज़ और ख़्याल भी करता है। लेकिन अँग्रेजी विद्या का असर है कि जो ज़रा पढ़-लिख लिया उसे और चाहिए, और चाहिए— पद, पैसा, सुख, यश, वैभव...सब कुछ! दूसरों का लिहाज़ और ख़्याल का क्या मतलब...। लेकिन ये तो होना ही है। क्योंकि भाषा संस्कृति से उत्पन्न होती है। भारतीय संस्कृति सन्तुष्टि और सौहार्द्र सिखाती है। जन्म-जन्मान्तर सुधारने की बात करती है। माँ-बाप-गुरु की वंदना सिखाती है। पाश्चात्य संस्कृति शरीर और भौतिक चीज़ों के आस-पास ही मँडराती है। उसके हिसाब से आदमी सिर्फ एक बार ही जन्म लेता-मरता है। ''यु ओनली लिव वन्स!'' और इसलिए ''लिव लाइफ़ टु द फुल्लेस्ट''!

जिसे हम आज़ादी कहते हैं वो झंडा फहराने के लिए बहुत पहले आ चुकी थी और अँग्रेजी अँग्रेजों के ज़माने से ज़्यादा स्वतन्त्र होकर फैल चुकी थी।

राजीव श्रीवास्तव एम. बी. बी. एस. कर चुका था। शादी भी उसकी हो चुकी थी। बीवी डॉक्टर थी—गायनोकोलॉजिस्ट— जो एक अस्पताल से अटैच्ड थी। राजीव सर्जन था और अपने देश में पैदाइश का औसत देखते हुए राजीव की बीवी पद्मा की डॉक्टरी लाज़मी तौर पर ज्यादा चलती थी। बीवी नासिक की थी। लेकिन झाँसी 'छोटी' जगह थी इसलिए वहाँ प्रैक्टिस डालने का कोई मतलब नहीं समझा गया। राजीव बीवी के कहने पर नासिक चला आया। दोनों ने नासिक में प्रैक्टिस शुरू कर दी।

झाँसी में राजीव का पुश्तैनी बड़ा मकान था। पिताजी थे नहीं। माँ वहाँ अकेले रहती थीं। वो नासिक क्या घर से बाहर कहीं भी जाने को तैयार नहीं थीं। उन्होंने साफ़ कह रखा था कि 'हम यहीं ब्याह के आए थे, यहीं मरेंगे। तुम चाहे हमें देखो या न देखो। यहाँ मोहल्लेवाले बहुत हैं हमें देखने वाले'।

नए मियाँ बीवी के थोड़े दिन तो नए स्कूटर पर घूम-घूमकर प्यार-मोहब्बत में निकल गए। बिल्कुल बेफ़िक्री थी। फिर पद्मा के बच्चा ठहर गया।

राजीव और उसकी बीवी दोनों एक दिन अचानक झाँसी आ गए। माँ बड़ी खुश हुई।

''अरे वाह! बहुत अच्छा हुआ तुम दोनों आ गए...बहुत दिनों से सोच रहे थे कि देखा नहीं...हम तुम्हारे लिए शाम को खीर बनाएँगे।''

''शाम तक हम नहीं ठहरेंगे!'' राजीव ने कहा। माँ एकदम ठगी-सी रह गईं, ''क्यों?''

''सामान बाँधो, हम तुम्हें लेने आए हैं।''

''लेने आए हैं?...क्यों? ...हम नहीं जाते जी कहीं। कह तो दिया तुमसे हम अकेले रह लेंगे लेकिन यहाँ से कहीं और नहीं जाएँगे।''

''माँ जी! ...ज़िद मत कीजिए...यहाँ आपको कुछ हो जाए तो कौन आएगा मदद के लिए! ...अब उम्र हो चली है और हमारे यहाँ तो डॉक्टर का ही घर है।'' पद्मा ने कहा।

''चलो माँ! बेटा-बहू से दूर रहोगी क्या? ...हम तुम्हारे कोई नहीं लगते क्या? ...हमें अच्छा नहीं लगता क्या कि हमारी माँ हमारे साथ रहे? ...सारा ध्यान यहाँ तुम में लगा रहता है।''

बहरहाल! बातों में रस और स्वाद इतना था कि माँ जी को हारकर नासिक जाना ही पड़ा। झाँसी छूट गया। और छूट गया झाँसी के साथ उन लोगों, उन दीवारों से रिश्ता जिन्होंने उन्हें इस घर में परछन से अब तक हर हाल में देखा था, सहारा दिया था और जिनके ही सहारे वे अब तक स्वाभिमान से जी रही थीं। माँ अपने ठाकुर जी को गठरी में सीने से लगाए चलीं!

नासिक का घर छोटा था। तीन कमरे थे। एक ऐसा आँगननुमा था जिसे आँगन कहा ही नहीं जा सकता था। उससे ऊपर छत पर एक ज़ीना जाता था जिसके नीचे की तिरछी जगह खाने के कमरे में एक अजीब-सा खाली तिकोन बनाती थी। पद्मा ने वो जगह दिखाकर कहा, ''माँ जी... अपने ठाकुर जी को आप यहाँ रख लीजिए।''

''नीचे? ... ज़मीन पे? ... कोई अलमारी, कोई तिपाई... कुछ ऐसा हो तो देओ।''

''यहाँ वो सब तो कुछ अभी है नहीं...लाना पड़ेगा।''

बहरहाल आला तो दीवारों में था नहीं, तिपाई आ नहीं पाई भगवान जी ने ज़मीन पर सन्तोष कर लिया।

राजीव रात को क्लीनिक से लौटता तो आवाज़ लगाता, ''पद्मा! ...माँ ने खाना खा लिया?'' फिर इस रस्म के बाद बेटा अपने और फ़र्ज़ निभाने में व्यस्त हो जाता। रात को अक्सर पार्टियों में जाना, किसी को खाने पर घर बुलाना, पिक्चर जाना या यों ही सैर पर निकल जाना आम बात थी।

माँ ने एक दिन कहा, ''राजीव! बेटा!...बहू के दिन भर गए हैं...उसे इस तरह घूमना-फिरना काम करना बंद करना चाहिए और आराम करना चाहिए।''

''वो ख़ुद ज़च्चा डॉक्टर है माँ!...उसे ख़ुद मालूम है कि क्या उसके लिए ठीक है और क्या नहीं।''

माँ पहले चौके में हाथ बटाने पहुँच जातीं थीं फिर बहू ने कहना शुरू कर दिया कि ''माँ जी... आज मैं जल्दी जा रही हूँ... ज़रा खाना बना लीजिएगा'' बूढ़े हाथ थे आदत भी आज के जितने लपड़-झपड़ में और वो भी खड़े होकर खाना बनाने की नहीं थी। एक दिन राजीव को एक ऑपरेशन के लिए जल्दी जाना था। रात के नौ बजे थे। पद्मा थी नहीं। राजीव का एक दोस्त घर पर आया हुआ था। माँ ने खाना बनाया और मेज़ पर लगा दिया। नज़र की कमज़ोरी कहिए या पैकेट के आयोडीन वाले नमक का अन्दाज़ कहिए तरकारी में नमक ज्यादा हो गया। राजीव मेज़ पर से ही बड़ी ज़ोर से चिल्लाया, ''माँ...!'' माँ दौड़ी-दौड़ी-सी खाने की मेज़ के पास आईं, ''क्या हुआ?''

''ये क्या किया तुमने? ...तुम ठीक से नमक भी नहीं डाल सकतीं? ...इतना नमक डालता है कोई? ...बछिया के लिए खाना बनाया है क्या?''

राजीव तो गुस्से में था। उसका दोस्त निगाह नीचे किए खाता रहा। माँ चुपचाप किचन में चली गईं और खिड़की के बाहर के अँधेरे को ताकती रहीं, तब तक जब तक कि राजीव की आवाज़ फिर नहीं आई, ''मेज़ पर से सब उठा लेना। पद्मा आए तो उसे खाना दे देना। हम जा रहे हैं।''

झाँसी में माँ सुबह उठकर नहा धोकर सीधे पूजा में बैठ जाया करती थीं। नाश्ता उसके बाद करती थीं। यहाँ बाथरूम एक ही था इसलिए नहाना सब के बाद ही होता था। उसके बाद पूजा करके जब उनके नाश्ते का समय होता सब जा चुके होते थे। कभी दिल किया तो नाश्ता किया नहीं तो नहीं किया।

पद्मा के बच्चा हो गया। लड़का हुआ। राजीव की माँ–माँ से दादी बन गईं। क्योंकि दादी नाती को देखने वाली थीं इसलिए राजीव और पद्मा की ज़िन्दगी और ऐश में कोई ख़ास फ़र्क़ नहीं आया। वैसे ही घूमने जाना, वैसे ही पार्टियों

में शिरकत करना, पिक्चर जाना, वक़्त -बे-वक़्त अस्पताल के कॉल पर चले जाना... सब कुछ वैसे ही चलता रहा। बच्चे के लिए दूध की बोतल रख दी, पानी रख दिया और चल दिए। माँ को छुआछूत का बहुत ख़्याल था। नहाये बग़ैर पानी नहीं पीना, किसी ने खाना छू लिया तो खाना नहीं खाना। वो सब इस बच्चे और इस माहौल की नज़र हो गया।

बच्चा बड़ा होता गया। डॉक्टरों की प्रैक्टिस बढ़ती गई। माँ बूढ़ी होती गईं और उनकी ज़िम्मेदारियाँ बढ़ती गईं। बच्चे को जब माँ घर पर न हो तो तैयार करके स्कूल भेजना। उसके लौटने के वक़्त उसे ताज़ा खाना देना। राजीव के लिए वक़्त-बे-वक़्त चाय नाश्ता तैयार करना। कामवाली न आए तो घर की सफ़ाई करना...वग़ैरह!

माँ की आदत थी कि दिन में दो-तीन बार सुपारी खाया करती थीं। घर में पानदान रखती थीं जो कि बहुत काम वाला और पुश्तैनी था। इसलिए राजीव ने कहा, ''लाओ इसे ड्रांइग रूम में सजावट की तौर पर रख देते हैं, सुपारी का क्या है, डिब्बे में रख लिया करो।'' झाँसी के घर में माँ अपने लिए सुपारी ख़त्म होने से पहले ही और सुपारी मँगा लिया करती थीं। यहाँ अक्सर किसी को फ़ुर्सत न होने की वजह से कई-कई दिन बग़ैर सुपारी के निकल जाते थे।

''बेटा सुपारी का याद रहा तुम्हें!''

''अरे ला देंगे माँ! ...तुम्हारी सुपारी देखूँ कि अपना काम देखूँ...काम चलेगा तो सुपारी भी आ जाएगी।''

माँ के लिए सदियों की तरह और राजीव और पद्मा के लिए मिनिटों के हिसाब से दिन गुज़र रहे थे। घर की ज़िम्मेदारी सँभालते-सँभालते माँ दिन-ब-दिन और बूढ़ी होने लगीं। लड़का और बड़ा होने लगा। प्रैक्टिस और बढ़ने लगी। स्कूटर से गाड़ी और फिर दूसरी गाड़ी आ गई। इस छोटे-से किराये के घर से एक बड़े घर में शिफ्ट किया गया– जो कि ख़रीद लिया गया था। इस मकान में ठाकुर जी को किसी फ़ालतू चीज़ की तरह जगह दी गई। माँ के कमरे में वो चद्दरें बिछने लगीं जो राजीव या उसके लड़के के पलंग के लिए पुरानी हो जाती थीं। अब माँ के लिए ब्लाउज भर सिलवाए जाते–वो भी दो-तीन साल में एक बार। साड़ियाँ उन्हें बहू की पुरानी दे दी जातीं। माँ का स्वाभिमान टूट गया था। राजीव को अब माँ के होने से कोफ़्त होने लगी थी। बहू के लिए माँ एक 'न जाने कहाँ से आ धमकी हुई औरत' थी और लड़का स्कूल से आने के बाद ठाठ से कहता था– ''ए...! जूते खोलो!''

एक दिन राजीव घर पर ही था। दोपहर का वक़्त था। माँ ने उसके सामने चाय रखकर कहा, ''बेटा, बहुत दिन हो गए यहाँ तुम्हारे पास। अब तो लड़का भी बड़ा हो गया। हमें तो तुम घर छोड़ आओ।''

''कौन से घर?''

''झाँसी! ...और कौन से घर?''

''वो घर तो बिक गया!''

''बिक गया?''

''और क्या! ...नहीं तो यह बड़ा घर लिया कैसे? ...अब यही घर है! ...यहीं रहो!''

''तुमने हमसे पूछे बग़ैर पुरखों की निशानी बेच दी!''

''उसमें पूछना क्या था माँ! ...बेकार खंडहर हो रहा था। अच्छे पैसे मिले, बेच दिया।''

''हमारा यहाँ जी नहीं लगता... हम क्या करें?''

''तो ये करो कि जी लगाओ। लड़का है, बहू है, नाती है और क्या चाहिए तुम्हें! सब आराम तो है यहाँ! ...जी क्यों नहीं लगता?''

राजीव के एक चचेरे चाचा थे राजेंद्र प्रसाद श्रीवास्तव। लखनऊ में रहते थे। राजीव के पिताजी और उनमें अच्छी पटा करती थी। वे शिर्डी दर्शन के लिए आए तो उन्होंने सोचा नासिक पास है मिलते चलें।

''कैसी हो भौजी?''

''अरे रज्जू तुम ! ...आओ भैय्या! बहुत दिनों बाद याद आई।'' माँ की आँखों में बहुत दिनों बाद ख़ुशी झलकी।

''अरे यहाँ भगवान के दर्शनों के लिए आए थे सोचा मिलते चलें।''

''अच्छा किया...बैठो...नाश्ता-वाश्ता बनाएँ तुम्हारे लिए।''

''बनाएँ मतलब? ...तुम बनाओगी?''

''अब भैय्या...और कौन बनाएगा... वो दोनों तो चले गए हैं बाहर।''

''भौजी इस उम्र में भी काम करती हो? ...हम तो समझे थे चैन से राम-भजन हो रहा होगा।''

''अब सब राम भजन ही हो रहा है भाई।''

''और ...ठाकुर जी रखे हो अभी के छोड़-छाड़ दिया सब कुछ?''

''हाँ...रखे हैं! ...ए रज्जू! ...तुम तो हमें ले चलो यहाँ से!''

''ले चलो! काहे भौजी? ...खुश नहीं हो यहाँ! कोई तकलीफ?''

''नहीं ...बस! ...झाँसी का घर सुना बेच दिया है ...तुमको कुछ मालूम है?''

''हाँ पता तो चला था लेकिन हमने समझा तुमसे पूछकर हुआ होगा ये सब।''

''अरे हम से पूछ के क्या होता है यहाँ...''

''चलो तो हमारे पास लखनऊ चलो...कुछ दिन वहाँ रह लेना। तबीयत बदल जाएगी।''

उस दिन शाम को इत्तेफ़ाक़ से सब घर पर ही थे। सब ने खाना साथ खाया। राजेंद्र प्रसाद बोले, ''हम सोचते हैं भौजी बहुत दिन यहाँ रह लीं, थोड़े दिन इन्हें हम लखनऊ ले जाएँ।''

''क्यों इनको कोई तकलीफ है यहाँ?'' राजीव ने पूछा।

''लेयो...! ...तकलीफ की बात कहाँ से निकल आई ...हम तो ये कह रहे हैं कि इनके लिए थोड़ा चैंज हो जाएगा।''

''ले जाइए!'' पद्मा ने सपाट-सा जवाब दिया।

''इनकी नज़र भी कुछ कमज़ोर हो गई है,'' राजेंद्र प्रसाद बोले, ''शायद मोतियाबिन्द उतर आया है।''

''हाँ तो बुढापा है, उतर आया होगा।'' राजीव ने कहा।

''तो इनका ऑपरेशन वग़ैरह का कुछ सोचा है?''

''अरे मोतियाबिन्द उतरा है तो क्या सीधे ऑपरेशन के लिए ले जाएँ? ...पक जाए, डॉक्टर जब कहे तब करेंगे कि ऐसे ही?''

''तुम तो ख़ुद डॉक्टर हो यार!''

''तो हम आँख के डॉक्टर थोड़े ही हैं।''

''तो किसी आँखवाले को दिखाया है क्या?''

''अरे क्या चाचा! ...आप तो पीछे ही पड़ गए...! माँ ने आपसे कुछ कहा है क्या कि हम उनकी देखभाल नहीं करते?''

''अरे नहीं भाई, भौजी से तुम्हारे बारे में कोई बात ही नहीं हुई।''

''नहीं, ये औरत बहुत तकलीफ़ दे रही है आजकल...पड़ौसियो से जाकर दुखड़े रोने शुरू कर दिए हैं इसने! लोग समझें कि हम इसे बहुत दुःख देते हैं।''

पद्मा खाने से उठ गई। राजीव ने अपने बेटे से बात करना शुरू कर दिया। राजेंद्र प्रसाद हाथ धोने चले गए। माँ प्लेटें समेटने लगीं।

रात को बीवी ने राजीव से कहा, ''क्या सोचा है माँ के लखनऊ जाने का?''

''ले जाएँ।''

''वहाँ जाकर भद्द तो अपनी होगी...कुछ कपड़े-वपड़े सिलवाने पड़ेंगे ...दो दिन में ये सब कैसे होगा।''

''तो?''

''कह दो टिकट की बहुत मारामारी है। अगली बार आइएगा तो ले जाइएगा।''

राजेंद्र प्रसाद जब जाने लगे तो माँ ने उन्हें पास बैठाकर उनके चेहरे को टटोला।

''ये क्या कर रही हो भौजी?''

''अच्छी तरह देख लूँ एक बार...फिर मौक़ा मिले न मिले!'' उनकी आँखों में आँसू उतर आए। राजेंद्र बाबू ने उन्हें गले लगा लिया। माँ बिलख पड़ीं।

''ना भौजी ना! तुम फ़िक्र न करो हम अब के जल्दी ही आएँगे। अब के दो टिकटों का बन्दोबस्त करके ही आएँगे।''

लेकिन राजेंद्र प्रसाद ख़ुद ही चले गए। लखनऊ पहुँचने के तीन महीनों बाद वो नहीं रहे।

माँ को दिखना एकदम बन्द हो गया था। टटोल-टटोल कर चलती थीं। एक दिन रात में इसी तरह बाथरूम जाते में उन्होंने समझा दरवाज़ा है, थी मेज़। धक्का लगा तो उस पर रखा कट ग्लास का एक बेशक़ीमती गुलदान गिरकर चकनाचूर हो गया। आवाज़ से पद्मा और राजीव दोनों अपने कमरे से बाहर आ गए। गुलदान के नुक़सान और बिखरे हुए काँच को देखा तो पद्मा उफन पड़ी– ''ये क्या मज़ाक़ है यार! ...इसको ले जाओ यहाँ से राजीव...!''

''क्या हुआ?'' राजीव ने मामले को समझने की कोशिश की।

''जीना दूभर कर दिया है इस औरत ने। न मरती है, न जीती है, न जीने देती है।''

उधर माँ के सीने की तकलीफ भी उभर आयी। बोलीं, ''अरे दिखता नहीं तो क्या करें...इतना बमकती क्यों है ...काँच ही तो है। साफ़ हो जाएगा।''

''सुना! सुना तुमने राजीव...! दिन-भर काम करो, रात में इसकी फैलाई तोड़-फोड़ साफ़ करो!''

''हे भगवान! कैसी बहू दी तू ने...लड़के को पहले घर से ले गई फिर

ज़िन्दगी से भी ले गई!'' माँ रो रही थीं।

''देखा!...देखा...! अब ये औरत यहाँ नहीं रह सकती...इसे यहाँ से कहीं ले जाओ! ...बस!''

''अरे हम यहाँ ख़ुद नहीं आते ...वो तो तुम्हीं ले के आए थे! भीख माँगते हुए! ...हे भगवान! तू उठाता भी नहीं निष्ठुर!''

''माँ! चुप रहो! बहुत हुआ तुम्हारा नाटक! एक तो तोड़-फोड़ करती हो, तमाशा करती हो ऊपर से झगड़ा करती हो!'' राजीव बोला।

''राजीव इसे यहाँ से ले जाओ...!''

''कहाँ?''

''कहीं भी! ...लेकिन इसने चैन लूट लिया है मेरा! ये इस घर में नहीं रह सकती।''

बहुत लड़ाई-झगड़ा, रोआ-पीटी हुई।

दूसरे दिन पता लगाया गया कि क्या कोई ऐसी जगह है जहाँ इतने बूढ़े लोगों को रखा जा सकता है। किसी जगह सिर्फ उन लोगों को रखते थे जो अपना काम ख़ुद कर सकते थे। कोई जगह सिर्फ आदमियों के लिए थी। कोई जगह बहुत दूर बैंगलोर वग़ैरह में और बहुत महँगी थी। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते एक जगह मिली, बम्बई के पास न्यू बॉम्बे में वहाँ डेढ़ हज़ार रुपए महीने पर वे लोग माँ जी को रखने के लिए तैयार हो गए। दवाओं का खर्च अलग।

एक दिन सुबह उठकर राजीव माँ के पास गया।

''माँ!''

''क्या?''

''चलो! तैयार हो जाओ हम एक जगह चलते हैं।''

''हमें दिखता नहीं, हम कहाँ जाएँगे!''

''तुम चलो तो...कुछ दिन वहाँ रहना, तबीयत ठीक हो जाए तो हम तुम्हें वापस ले आएँगे।''

''तबीयत तो अब हमारी क्या ठीक होगी बेटा! ...अब तो बस भगवान् उठा ले बस।''

''चलो तैयार हो जाओ...''

''अरे हम नहीं जाते जी...कहाँ जाएँगे?''

''कहा न! चलो!'' राजीव ने इतना तुर्श और सपाट कहा कि माँ ने चलना ही ठीक समझा।

माँ को लाकर वृद्ध आश्रम में रख दिया गया। राजीव ने आश्रम के ऑफिस में जाकर साल भर के पैसे एडवांस भर दिए। फिर माँ के पास आया।

''माँ कुछ दिन यहाँ आराम से रहो...तबीयत ठीक हो जाए तो मैं तुम्हें आकर ले जाऊँगा।''

''इनको मालूम है तुम्हें कहाँ इत्तेला करना है?''

''हाँ इनके पास मेरा पता है।''

''बेटा एक काग़ज पर लिखकर अपना पता तुम मुझे भी दे दो...क्या पता ये खो दें तो मेरे पास तो रहेगा।''

राजीव ने एक काग़ज माँ के हाथ में थमा दिया। माँ ने उसे सावधानी से मोड़ कर अपने तकिये के नीचे रख लिया।

राजीव चला गया।

वृद्ध आश्रम में सुबह साढ़े छः बजे उन्हें उठाकर नहाने ले जाया जाता। कपड़े बदले जाते। फिर नाश्ता दिया जाता-कभी पोहा, कभी ब्रेड-बटर कभी इडली और एक प्याला मक्खन निकला हुआ दूध। माँ को ये सब खाने की आदत नहीं थी सो कभी खातीं कभी नहीं खातीं। खाने में गुजराती तौर का खाना होता था। एक थाली में सब कुछ एक साथ फरसाण, नमकीन, मीठा-सब! शाम को कम पत्ती और कम दूध वाली बग़ैर शक्कर वाली चाय। रात को फिर क़रीब-क़रीब वैसा ही खाना। साढ़े आठ बजे बत्ती बन्द कर दी जाती। आयाएँ ड्यूटी पर ताश खेलते-खेलते जागतीं और वृद्ध अपनी खुली आँखों से लाचारी के खेल देखते-देखते... सोचते! यहाँ सब का सब कुछ था और किसी का कुछ भी नहीं!

छः महीने यों ही गुज़र गए। न राजीव आया न उसकी कोई ख़बर तो माँ ने एक दिन आया से कहा, ''बेटे को ख़बर कर दो कि वो हमें आकर ले जाए!'' आया ने कहा, ''डॉक्टर आएगा उससे कहना।''

डॉक्टर रोज़ सुबह विजिट पर आता था। माँ ने उससे कहा। डॉक्टर बोला, ''माँ जी, आपका बेटा बाहर गया है...आएगा तो कह देंगे।'' डॉक्टर ने टाल दिया... दो-तीन महीने और निकल गए।

''अरे राजीव से कहो आकर ले जाए...हम कोई बीमार थोड़े ही हैं!'' माँ जी कहती रहीं।

''वो अब कभी नहीं आएगा माँ जी!'' आया ने एक दिन कह ही दिया।

''क्या बकवास करती हो!''

''हाँ! वो तुम्हें छोड़कर चला गया है। पैसे भी एडवांस में भर गया है।''

माँ का स्टाफ पर से भरोसा उठ गया। एक दिन बग़लवाले वृद्ध के पास एक आदमी आया। देख पाती नहीं थीं। आवाज की दिशा में चलीं। उस आदमी का उन्होंने हाथ पकड़ लिया, ''बेटा!''

''क्या है?''

माँ ने एक परचा उस आदमी के हाथ में दिया, ''बेटा! ये हमारे लड़के का पता है। तुम इसे फ़ोन कर दो कि वो आकर हमें ले जाए।''

आदमी ने परचा देखा। उस पर कुछ लाइनें खिंची थीं। लिखा कुछ नहीं था।

''इस पर तो कुछ नहीं लिखा है!''

''हट...तू भी झूठ बोलता है ...तू भी इनके साथ मिला हुआ है! ...ये लोग हमें अपने बेटे से नहीं मिलने देते...!''

फिर ऐसे वाक़यात अक्सर होने लगे। माँ ने किसी की आवाज़ सुनी और पहुँच गईं।

उस दिन फिर पहुँच गईं।

''बेटा...! ए बेटा...! ये देखो हमारे लड़के का पता है।''

''अरे कौन है ये?...'' आदमी घबरा गया।

आया ने आकर हाथ छुड़ाया।

''हट चुड़ैल'' माँ ने आया को हटाने की कोशिश की, ''तू हमें अपने बेटे से नहीं मिलने देती।''

''चलो चुपचाप लेट जाओ!'' आया ने हाथ पकड़कर उन्हें उनके पलँग की तरफ़ घसीटा।

माँ ने आया का हाथ झटक दिया। ''नहीं लेटते...जा!'' वे फिर उस आदमी की ओर लपकीं, ''बेटा! देखो तुम्हारा बड़ा एहसान होगा! ...बेटा...!''

आया ने मैट्रन को, मैट्रन ने डॉक्टर को आवाज़ लगाई। ड्यूटी वाला डॉक्टर आ गया। माँ जी ने आदमी का हाथ और कसकर पकड़ लिया।

''बेटा! ...ए बेटा...!...सुनो तो...''

डॉक्टर ने जबरदस्ती माँ जी के हाथ में इंजेक्शन लगा दिया। माँ का शरीर सुन्न पड़ने लगा। आँखें मुँदने लगीं। आदमी के हाथ से उनकी पकड़ छूट गई। उनके मुँह से बौराई-सी, स्वप्निल-सी आवाज़ एक बार फिर निकली, ''बेटा!...ए बेटा...! सु...नो..त्...''

उसके बाद माँ बेहोश होकर पड़ गईं।

चढ़ती-उतरती नस

रघुवर प्रताप सिंह ज़मींदार थे। फ़ैज़ावाद ज़िले की अकबरपुर तहसील में उनकी ज़मीनें थीं और उस गाँव में ही नहीं उसके आस-पास तक उनकी तूती बोलती थी। सिंह साहेब के ख़ानदान के अलावा उस गाँव में चार-पाँच घर ठाकुरों के और दो घर पंडितों के थे। दो इसलिए के एक तो पंडित जी थे ही जो पीढ़ियों से इस गाँव में पुरोहिती कर रहे थे, दूसरा इसलिए हो गया कि उन्होंने बेटी की शादी करके दामाद को दहेज़ में अपनी दो बीघा ज़मीन दे दी थी, सो वो यहीं बस गया था। पंडित जी के लिए भी अच्छा, दामाद के लिए भी अच्छा और लड़की के लिए भी अच्छा। इस तरह पंडितों के दो घर थे। पुरोहिती लेकिन सिर्फ़ पंडित जी ही करते थे। दामाद को उन्होंने इस ओर नहीं किया था। उनका छोटा लड़का बड़ा हो रहा था। पुरोहिती करनी है तो वो करेगा!... इनके अलावा बाक़ी सब घर खँगार, चमार, लोधी, धोबी, नाई और और तमाम और 'नीची' ज़ातवालों के थे। कभी-कभी त्योहार या समारोह में अलबत्ता अपने नाईपने या धोबीपने की ज़रूरत पड़ जाए तो पड़ जाये वरना सारे-के-सारे थे काश्तकार–किसान– कुछ एक की अपनी ज़मीनें थीं बाक़ी सब ठाकुर साहेब के खेतों पर काम करते थे। गाँव की तक़रीबन आधी ज़मीनें रघुवर प्रताप सिंह की थीं। एक-चौथाई समझ लीजिए कि नीचों की और एक-चौथाई दूसरे दो-चार ठाकुरों की। इसलिए गाँव में क्या मजाल कि परिन्दा भी रघुवर प्रताप सिंह की मर्ज़ी की ख़िलाफ पर मार जाए!

आज़ादी जब आई और जब सामाजिक उत्थान और जाति-पाँति उन्मूलन की बातें उभरीं तो इस गाँव तक भी पहुँचीं और यहाँ भी नीचों ने सर उठाना शुरू किया। साठ का दशक आते-आते रघुवर प्रताप सिंह बूढ़े हो चले थे, उनके बेटे जमना प्रताप सिंह ने समय को समझा और सबसे शिष्टाचार बरतना ही ठीक समझा। ठकुराई तो चलेगी ही! ज़मींदारी तो है ही! पहले सालों को हंटर मार के गाली देते थे अब मुस्कुराकर दे देंगे! अपना क्या जाता है...जूती रहेगी तो जूती ही न! पंच और सरपंच तक तो ठाकुर साहेब की मर्ज़ी से चुने जाते हैं...

सो अब क्या नया हो जाने वाला है!

गाँव के मोहाने पर एक पुलिस चौकी भी थी। अँग्रेज़ों के ज़माने से चली आ रही थी। एक-आध कांस्टेबल तीन-चार दिनों में वहाँ चक्कर लगा लेता था। किसानों से कुछ तरकारी-वरकारी ले जाता था और ठाकुरों के यहाँ कलेवा कर जाता था। तीज-त्योहार ठाकुर साहेब के घर बख़्शीश के आलावा खाने-पीने को मिलता था और साथ में सेर-दो सेर देसी घी के लड्डू भी थमा दिए जाते थे। हवलदार ठाकुर साहेब का ग़ुलाम था। सन् 70-75 के बाद इस चौकी को कोतवाली का दर्जा दे दिया गया तब से यहाँ एक सब इंस्पेक्टर की नियुक्ति हो गई। होता हालाँकि वो भी हवलदार जैसा ही था– ठाकुर साहेब के अहसानों के तले दबा हुआ! काम तो ख़ैर कोतवाली में था ही क्या– और फ़ोन तब तक यहाँ पहुँचे नहीं थे तो वहाँ रहना ज़रूरी नहीं होता था। इत्तेलाह कोई शहर से आनी हो तो बसों-ट्रकों वालों से भिजवा दी जाती थी। इसलिए सब इंस्पेक्टर का समय कोतवाली से ज़्यादा ठाकुर साहेब के घर पर बीतता था। सो पंचायत अपना काम कर रही थी, पुलिस अपना काम कर रही थी, मज़दूर अपना काम कर रहे थे और ठाकुर साहेब की ज़िन्दगी जैसी चल रही थी वैसी ही चल रही थी। बादशाहत बरक़रार थी!

जमना प्रताप के दो लड़के थे। एक दस के क़रीब और दूसरा छोटा कोई पाँच साल का। जमना के एक चचाज़ाद भाई थे– चचाज़ाद यानी रघुवर प्रताप के सगे भाई की इकलौती औलाद–त्रिभुवन प्रताप सिंह! त्रिभुवन अपने पिता की फ़ालिज की बीमारी के इलाज के लिए उन्हें बम्बई ले आए थे। न पिताजी ठीक हुए न त्रिभुवन का वापस जाने का मन हुआ। इस तरह त्रिभुवन पिछली दो पीढ़ियों से बम्बई में जा बसे थे। सांताक्रूज़ में रहते थे। सांताक्रूज़ में यू पी वालों का गढ़ था। इधर-से-उधर तक ये वो सिंह वो वो सिंह...इन्हीं लोगों ने अपने बच्चों के लिए एक मारवाड़ी कम्पनी के साथ मिलकर वहाँ एक स्कूल भी खुलवाया था। त्रिभुवन इस स्कूल के ट्रस्टी थे। आस-पास उनकी चार-पाँच दुकानें थीं। एक मिठाई की और एक दूध की तो ये ख़ुद चलाते थे बाक़ी इन्होंने किराए पर चढ़ा रखी थीं। हाँ औलाद इनके कोई नहीं थी।

जब रघुवर प्रताप की मृत्यु हुई तो ख़बर मिलते ही त्रिभुवन अकबरपुर आए। ख़बर मिलते और सफ़र करके आते-आते दसवाँ हो गया। बहुत दिनों बाद आए थे सो दो-चार दिन ज़मीनें देखते रहे, तीन-चार दिन आराम करते रहे, गाँव की अपनी यादें ताज़ा करते रहे। जमना बराबर सोचते रहे कि कहीं

त्रिभुवन अपनी ज़मीनों का हिस्सा न माँग बैठें। उन्होंने मन में पूरा हिसाब लगा रखा था कि अगर उन्होंने माँग लिया तो वे जितनी बंजर ज़मीनें पड़ी हैं उनका हिसाब दे देंगे। और अगर ज़्यादा इधर-उधर करेंगे तो सीधा कह देंगे के लगान इतने सालों से वे ख़ुद देते आए हैं मज़दूरों को वे देते आए हैं उसमें तो कभी उन्होंने त्रिभुवन से कुछ माँगा नहीं तो वो भी जमना से कुछ माँगने के हक़दार नहीं हैं। लेकिन त्रिभुवन ज़मीनों की बात ही नहीं करते थे। एक दिन दोपहर में जमना, जमना के दोनों लड़के और त्रिभुवन साथ में बैठे पौर में चाय पी रहे थे। त्रिभुवन बोले, " जमना...तुम इन दो-दो का का करोगे...एक लड़का हम लिये जात हैं ...। उहीं बम्बई मां पढ़िहै लिखीहै ...आदमी बनिहै ...। नाम तुम्हार चलै और बेटा हमार रहै ... !...कहौ... !"

जमना सिंह ने ना-नुकर नहीं की। त्रिभुवन को अच्छा लगा कि आख़िर छोटे भाई ने बड़े भाई का मान रखा। जमना ने सोचा की लड़के को बम्बई भेजने में कोई हर्जा नहीं है– एक तो अच्छी तरह पढ़-लिख जाएगा और दूसरे सबसे बड़ी बात कि त्रिभुवन की वहाँ जो सम्पत्ति है उसका वारिस तो यही लड़का हुआ न!

जमना के बड़े लड़के का नाम था रमा कान्त सिंह और छोटे का लक्ष्मी कान्त सिंह, लेकिन गाँव में लड़कों को टुन्नू और मुन्नू बुलाया जाता था। स्कूल में हाज़री हुई तो बात और वरना नाम तो टुन्नू और मुन्नू ही चल रहे थे। रमाकान्त कहो तो शायद टुन्नू सुने ही नहीं!

बहरहाल जब सब रिश्तेदार निकलते-निकलते दो बारा फिर अघा के रो लिये और अपने-अपने घर वापस जाने लगे तब त्रिभुवन भी चलने की तैयारी करने लगे। रमाकान्त साथ जा रहा था। सामान बँधा, पूड़ी और लड्डू बँधे जीप में सामान लादा गया, गले मिल के फिर रोना-धोना हुआ...। समय का अन्दाज़ा किसी को नहीं था।

"अरे इ सब मां गाड़ी ना निकल जाये..." त्रिभुवन चिड़चिड़ाए।

"गाड़ी कैसे निकल जाए?" जमना ने कहा।

"अरे चार कोस पे स्टेशन बा ...ना पहुँच पाए और गाड़ी चली गई तब... !...तनी जल्दी करौ... !"

"अरे दद्दा! इ तुम्हार बम्बई नाहीं है...। यहाँ हमार हुकुम चलत है...गाड़ी तुम्हें छोड़ के कैसे जाई?...रोक ना देंगे साली को!... देखें कौन माई का लाल तुम्हें लिये बग़ैर चला तो जाए इन्हाँ से!"

बहरहाल! त्रिभुवन प्रताप सिंह रमाकान्त को ले के बम्बई आ गए। गाँव में हालाँकि रमाकान्त पाँचवें दर्जे में पढ़ता था, लेकिन बम्बई के प्रिंसिपल ने 'ट्रस्टी' त्रिभुवन सिंह से गुज़ारिश की कि "सर...! पढ़ाई का मामला है, लड़के के भविष्य का सवाल है...तीसरे में भर्ती कर दूँ?...अच्छ रहेगा!"

"पढ़-लिख के हू का हुईहै ...तीसरे में डारो चौथी में डारो...कमाय खाए की चिन्ता तो है नहीं...जौन समझो सो करो...!"

रमाकान्त तीसरे दर्जे में दाख़िल हो गए। गाँव में स्कूल गए तो गए ना गए ना गए। जो पहन के सोए थे वो ही पहने चले गए। यहाँ स्कूल में रोज़ जाना पड़ता था। त्रिभुवन की पत्नी लीलावती टुन्नू को देखकर फूली ना समाती थीं।

"एक काम तुम ठीक किये लाईफ मां...। ई लड़का हुआँ से लाइ आए... हमार मनौ लगा रहै और इ ससुर आदमियो बन जाए...!

"तुमको बम्बई मां तीस साल हुई गए," त्रिभुवन ने तीर मारा, "तुम आदमी हुई गईं...?"

"ऊ तो हम तुम्हार संग फँस गए ना ...दूध वाला हों ना तौं...नाहीं तो हम तो बम्बई मां महारानी ना बन जाते तो कहते।"

नोंक-झोंक चलती रही। टुन्नू को टुन्नू से पूरी तरह रमाकान्त होने में ज़रा समय लगा। त्रिभुवन सिंह और लीलावती को घर में लड़का होने की आदत पड़ने लगी और गाँव से टुन्नू के हाल-चाल पूछने वाले ख़त धीरे-धीरे और लम्बे वक़्फ़े से आने लगे।

गाँव की अपनी परेशानियाँ थीं। वहाँ जो ज़मीनें काछियों या उस तरह के और लोगों की थीं वे किसी यादव ने ख़रीद ली थीं। मिठाई लाल यादव कौन था, कहाँ से आया था कोई नहीं जानता, बस वो आया, नोटों की गड्डी लाया और उसने सीधे ज़मीनों का सौदा कर डाला। तो अब गाँव में दो ही लोगों की ज़मीनें रह गईं–एक जमना प्रताप सिंह की या दो-चार और ठाकुरों की या फिर मिठाई लाल यादव की!

"राम राम सिंह साहेब!" एक दिन मिठाई लाल जमना सिंह के घर आया।

"राम राम!" जमना सिंह ने पहचानते हुए भी पहचान नहीं बताई।

"हम हैं मिठाई लाल यादव...यहाँ ज़मीनें लिये हैं। ज़मीनें आप की भी हैं तो सोचा हमें एक-दूसरे को जानना चाहिए। सो आ गए।"

"अच्छा...अच्छा...आप हैं...बैठिए-बैठिए", लेकिन जब मिठाई कुर्सी पर बैठने लगा तो जमना ने उसे फ़र्श पे बिछा क़ालीन बताते हुए कहा, "अं अं ...इधर आ जाइए।" जमना सिंह की ठकुरास ऊपर आ गई थी। आख़िर एक अहीर को कुर्सी कैसे दे दें! लेकिन तब वो भूल रहे थे कि यादव अब अहीर नहीं ठाकुर माने जाते थे। मिठाई के मान को ठेस लगी थी। वो बैठा नहीं, खड़ा रहा।

"नहीं-नहीं...बैठेंगे नहीं...ऐसे ही आए थे...अब चलें...फिर कभी मिलेंगे।"

वक़्त बदल रहा था। गाँव में कोतवाली का सब इंस्पेक्टर अब अकेले जमना सिंह के यहाँ ही नहीं मिठाई लाल यादव के यहाँ भी घी-पूड़ी खा रहा था। पंडित जी अलबत्ता गाँव में अब भी एक ही थे। किसी के भी यहाँ पूजा-पाठ, कथा इत्यादि करने के लिए एक ही शख़्स! बूढ़े हो चले थे। उनका लड़का दसवीं तक पढ़ चुका था और अब वे उसी को कर्मकांड की शिक्षा देने में लगे थे। एक ही पंडित था तो ज़ाहिर है वो ही ठाकुरों के घरों में और वो ही यादव के घर में जाता था। मिठाई के फाँस गड़ चुकी थी–"साला वो भी ठाकुर हम भी ठाकुर और वो हमने फ़र्श पे बैठाएगा! हुक्का से निगाली निकाल के देगा..."

लेकिन वक़्त तो वक़्त है और बदलता रहता है। एक-सा कब किसका रहा है! लेकिन नब्बे के दशक के अन्त तक आते-आते ये वक़्त कुछ ज़्यादा ही तेज़ी से बदला। अभी तक गाँव में बड़ी मुश्किल से फ़ोन आया था, लाइन मिलाने में घंटों लग जाते थे। और लाइन मिले तो कहो सुनाई ही न दे। यहाँ से बोलने के लिए बेतरह चिल्लाना पड़े। लेकिन अब...अब सेल फ़ोन आ गए थे...छोटे-छोटे-से...लोग इन्हें जेबों में डाले फिरते थे। उससे बात भी करते थे और गाने भी सुनते थे। लोगों के पास पैसा बढ़ गया था। काम कोई करना नहीं चाहता था। खेती का काम मुश्किल हो गया था। मज़दूरों की क़िल्लत होने लगी थी। फ़सल जो बिके उससे पूरा नहीं पड़ता था। बीज के लिए भी बचाना मुश्किल होता था। मुन्नू जब आठवीं में आया तब ही उसकी शादी कर दी गई थी, सो अब उसके बच्चे बड़े होने लगे थे। गाँव में घर-घर टी वी पहुँच चुका था। मुन्नू को खेतों पर जाकर ख़ुद काम करने-करवाने से ज़्यादा बीवी के साथ बैठकर टी वी देखने में मज़ा आता था। उसे टी वी में देखे हुए नए-नए डिज़ाइन के कपड़े सिलवाने का शौक़ चढ़ गया था। ठाकुर जमना सिंह बूढ़े होने लगे थे। गाँव, ज़िला और कोई-कोई तो कहता था कि प्रदेश राजनीति में भी मिठाई लाल यादव की पकड़ बढ़ रही थी। गाँव में तो वो निर्विरोध सरपंच हो ही गया था। उसके पास पैसा और यश दिनोंदिन बढ़ता ही जा रहा था।

मिठाई लाल का पन्द्रह साल का लड़का दो-दो फ़ोन लिये गाने सुनता गाँव-भर में मोटर साइकिल दौड़ाता फिरता था– लड़कियों के चक्कर में!

उधर बम्बई में रमाकान्त बी. ए. पास करके आइ. पी. एस. में हो गया था। सीधे एस. पी. -सुपरिंटेंडेंट पुलिस! त्रिभुवन कहते ही रह गए कि नौकरी ही करनी थी तो काहे हम तुम्हें बम्बई लाए...हमारे पास रहते तो बात थी... पढ़ा-लिखा दिए हम ग़ल्ती किए! लेकिन लीलावती जी को रमाकान्त को वर्दी में देखकर बड़ा अभिमान होता था। 'ठाकुर का लड़का पुलिस में, फ़ौज में न जाई तो का करी ...तुम्हारी सरीखा दूध बेचै...!'

कार्तिक का महीना था। माता के मन्दिर में नौ दिन जल चढ़वा दिया गया था। जवारे निकल चुके थे। दशहरे की सुबह ठाकुरों के घरों में शस्त्र पूजा का विधान था। जमना सिंह के घर-आँगन के एक तरफ़ सफ़ेद चद्दर बिछाई गई। उस पर बन्दूकें, भाले, तलवारें, कटार इत्यादि– जो-जो हथियार घर में थे सब तरतीबवार रखे गए।

दस बजे अपने लड़के को ले के पंडित जी आ गए। मुन्नू पूजा में बैठे। मुन्नू का सबसे छोटा सात-आठ साल का बेटा गुड्डू तलवार चलाने की ज़िद करने लगा।

"तुम क्या तलवार चलाओगे...उठा ही न पाओगे...भारी है।" मुन्नू बोले।

"छोड़ो...।" टी वी में देखते नहीं हो सलमान ख़ान कैसे बाएँ हाथ से उठा लेता है।" लड़के ने जवाब में कहा।

"वो तो तमंचा ...तलवार थोड़े ही।"

"तमंचा हो तलवार हो...हमें सब मालूम है..."

जब लड़के की बात नहीं मानी गई तो वो ज़िद पकड़ गया। ज़मीन में अँगूठा गड़ा के उसने धाड़-मार के रोना शुरू कर दिया। लोगों ने कहा शुभ दिन किसी का रोना ठीक नहीं है चलो इसे गोदी में बैठा लो। लड़का मुन्नू की गोद में बैठ गया। पूजा शुरू हो गई। हर एक शस्त्र हाथ में लेकर उस पर तिलक लगाकर उसे माथे से छुआकर रखना था और फिर अन्त में वो ही फूल, मिठाई, प्रसाद और प्रार्थना वग़ैरह। तलवारों के बाद नम्बर आता था बन्दूक का। बारह बोर की वेब्ली स्कॉट राइफल। मुन्नू ने उठाई, तिलक लगाया, सर से लगा के आँखें बन्द कीं नहीं कि गुड्डू जो इधर-उधर हाथ चला रहा था उसने खेलते-खेलते ट्रिगर दबा दिया। दबा दिया तो बन्दूक चल गई और गोली जा के लग गई पंडित जी के लड़के कि दायीं बाँह में। ख़ून बहने लगा। बौखलाहट शुरू हो गई। पूजा का तमशा बन गया। सब यही मानते रहे कि 'शुक्र है गोली बाँह ही में लगी'। लापरवाही की बात किसी के ध्यान में ही नहीं आई।

कोतवाली में एक नया सब इंस्पेक्टर आया था। वो शाम तक जमना सिंह के घर पहुँच गया। थाने में रिपोर्ट लिखवाई गई थी। मामला लापरवाही और ख़ून का बनता था।

"हमारे ख़िलाफ़?" मन्नू की ठकुरास ऊपर आ गई, "जानते नहीं हो का हमको...?... जहाँ खाते हो वहीं गढ़हा करोगे?"

"पंडित जी रिपोर्ट लिखवाए हैं।"

"पंडितवा की इतनी हिम्मत! हमारे ख़िलाफ़ रिपोर्ट लिखवाएगा!...। मर ही जाता तो अच्छा होता...स्साला...!... और तुमने लिख कैसे ली?"

"हम तो नहीं लिख रहे थे...। और ये रिपोर्ट पंडित जी भी नहीं लिखवाए हैं...। यादव जी का एक आदमी कोतवाली आया रहा, बोला लिखो...। हम का करते?!"

"ओ अहीरा जौन अब ठाकुर हुयी गवा है...हूँ...! अरे रफ़ा-दफ़ा करो जी...!"

मन्नू पंडित के घर दौड़ा। "साले! हमारा खा के हमीं पर थूकोगे?...शर्म नहीं आती हमारे ख़िलाफ़ रिपोर्ट लिखवाते!...लड़का मरा तो नहीं न...। चोट ही तो लगी है...इलाज हम करवा देंगे...!"

"हम तो रिपोर्ट नहीं करवा रहे थे लेकिन ख़बर फैल गई और पंचायतवाले हमें ले के गए थाने, रिपोर्ट उन्हीं ने लिखवाई है," पंडित ने हाथ जोड़े, "हमारे तो सब ही मालिक हैं।"

दूसरे दिन सुबह-सुबह पुलिस की लाल बत्ती वाली एक जिप्सी जमना सिंह के घर के आगे आ के रुकी। वर्दी में एक चुस्त नौजवान उतरा और सीधे अन्दर चला आया। पीछे-पीछे दो हवलदार।

"मन्नू सिंह कौन है?"

"काहे?"

"उस पर लापरवाही बरतने और ख़ून के मामले में वारंट है।"

"वारंट!"

जमना सिंह कूदे, "अरे तनी बैठो पोलस बाबू...अब ठाकुर का लड़का बन्दूक न चलाई तो का सूत काती...। अरे हो गई ग़लती...हो गया सो हो गया... ख़तम करो क़िस्सा!...बोलो क्या सेवा करें...?"

"हम कुछ नहीं कर पाएँगे।"

"तो कौन कुछ कर पाएगा?"

"मिठाई लाल यादव जी यहाँ के सरपंच हैं, प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं...। वे कह दें के ये ग़लत है, ऐसा कुछ नहीं हुआ है, रिपोर्ट ग़लत लिखवाई गई है। तो हम तहक़ीक़ात बन्द कर देंगे। वरना आज आपको हमारे साथ कोतवाली तो चलना पड़ेगा।"

"कोतवाली!" जमना को ग़श आने लगा। उन्होंने रमाकान्त को फ़ोन लगाया। 'टुन्नू' को सारी बात समझाई। रास्ता पूछा तो रमाकान्त ने कहा "अगर रिपोर्ट लिखवाई गई है तो कार्यवाही तो होगी।"

"कौनो रास्ता सुझाओ।"

"रास्ता क्या सुझाएँ बाबू...। ये ग़लती कोई ग़लती है?... लापरवाही की हद हो गई, आप बच्चे को गोद में बैठा के शस्त्र पूजा करते हैं! वो तो शुक्र करो बच्चे को कुछ नहीं हुआ...और अगर पूजा ही करनी थी तो बन्दूक लोडेड काहे रखी थी?... कारतूस निकाल के नहीं रख सकते थे?"

"देखो जो हो गया सो हो गया।"

"तो अब कुछ नहीं हो सकता...वैसे भी हम हियाँ बैठे-बैठे का करेंगे...। जो करेगा वहीं का इंस्पेक्टर करेगा। उसी से बात कीजिए।"

जमना समझ गए कि अब मिठाई लाल के पास जाने के अलावा कोई और चारा नहीं बचा है। मन मारा और चले।

"आओ ठाकुर जमना सिंह! पहली बार आए हो...बैठो-बैठो!" जमना सिंह कुर्सी पर बैठने को हुए ही थे कि मिठाई लाल ने फर्श कि तरफ़ इशारा करके कहा, "अं अं...हियँ आ जाओ!"

जमना सिंह को अपनी करनी याद आ गई। वे खड़े रहे।

"यादव जी! ग़लती हो गई बच्चे से...अब उसके लिए हवालात जेल के अलावा कोई और तरीक़ा भी होगा।"

यादव ने कुछ सुना कुछ नहीं सुना। फिर उसने दरवाज़े पर खड़े पुलिस अफसर की तरफ़ देखकर कहा, "अरे बाहर काहे खड़े हो गए भाई...आ जाओ, अन्दर आ जाओ...इ हैं सिंह साहेब...गाँव के बड़े ज़मींदार ...समझे न...इनका कुछ करो भाई...इ बेचारे फँस गए हैं।"

"सर खेती तो अपनी भी है...। ट्रैक्टर नहीं है!"

"ट्रैक्टर है न ठाकुर साहेब के पास...। लय जाओ...। और चाहो तो दो-एक एकड़ ज़मीनो लिखा लयो अपने नाम...। ठाकुर साहेब की बहुत जमीनें हैं हियाँ...क्यों ठाकुर साहेब...ठीक है न!"

ठाकुर जमना सिंह चुपचाप अपने भीतर तमाचे पर तमाचा बर्दाश्त करते रहे। उनसे कुछ कहते न बना। फिर उन्होंने सहमते हुए पूछा, "रिपोर्ट तो वापस हो जाएगी न?"

"कौन-सी रिपोर्ट? काहे की रिपोर्ट?...पन्नौ फाड़ डालेंगे साले रजिस्टर का...हं हं हं हं हं...!" पुलिस इंस्पेक्टर ने यादव साहेब की हँसी में हँसी मिलाकर कहा।

को जाने कौन भेस नारायन!

मल्टीप्लेक्सेस और डी वी डी के चलते झाँसी में चित्रा सिनेमा का नामोनिशान मिट चुका है और नौजवान लोग चित्रा सिनेमा के नाम से अब इस जगह को जानते भी नहीं हैं। अब ये जगह भंडारा चौराहा के नाम से जानी जाती है। भंडारा इसलिए कि कभी किसी छुट भैय्ये ने चौराहे के बग़ल में एक मन्दिरनुमा रख लिया था। मटमैली लँगोटी लगाए, भभूत मले उघारे बदन त्रिपुंड लगाकर पंचा डाल कर वहाँ के ये भइया जी पुजारी बन गए। हालाँकि मन्दिर के चलते इस जगह से तो स्वतन्त्र भारत में कोई माई का लाल उन्हें हटा नहीं सकता था लेकिन सिवाय छोटे-मोटे चढ़ावे की आमदनी की कमी भैय्या जी को बहुत खलती थी।

तालबेहट से झाँसी आकर बहुत दिनों फ़ाक़ों में गुज़ारकर बड़ी मुश्किल से तो इस जगह पर वे क़ब्ज़ा कर पाए थे लेकिन इससे क्या होता है! दुनिया है तो माल का सवाल है! भैय्या जी ने देखा लोग ग़रीबों को भोजन करवाने में बड़ा सवाब मानते हैं। उनकी बुद्धि चली और उन्होंने मन्दिर में हर रविवार दोपहर को भंडारा आयोजित करना शुरू कर दिया। लोगों ने इनकी भरपूर तारीफ़ की और तक़रीबन हर शख़्स ने इच्छा ज़ाहिर की कि 'हम भी भंडारा के लिए दान देना चाहते हैं' इस तरह ये भंडारा रोज़ दोपहर होने लगा। अब ये हाल है कि हर दोपहर में शहर के कम-से-कम पाँच सौ भिखारी यहाँ 'प्रसाद' खाने पंगत लगाकर सड़क और चित्रा खंडहर की खाली जगह पर बैठते हैं। एक बार के भंडारा में दान स्वरूप दस हज़ार से कम राशि स्वीकार नहीं की जाती। भैय्या जी अब मन्दिर में नहीं बैठते, अब वे कभी-कभी अपनी एअरकंडीशंड श्कोडा लौरा में इस तरफ़ से यदि निकले तो नज़र मार लेते हैं वरना काम-काज सब उनके 'भक्तों', 'कार्यकर्ताओं' की देख-रेख में सुचारु रूप से चल रहा है। एक चार्टर्ड अकाउंटेंट है जो हिसाब-किताब करता रहता है। जब से भंडारा हिट हुआ है भैया जी ने राजनीति का रुख़ कर लिया है। राजनेताओं ने इनकी इमेज को भुनाने के हिसाब से इन्हें एम.एल.ए. का चुनाव लड़वा लिया। अब भैय्या जी तीन बार से बराबर झाँसी से चुने जा चुके हैं और दो बार—जब इनकी पार्टी की सरकार थी— मन्त्री पद पर भी रह चुके हैं।

भैय्या जी का नाम— जब ये तालबेहट की छोटी-सी तहसील में रहते थे— रखा गया था हैरान सिंग यादव। हैरान नाम का हालाँकि कोई औचित्य नहीं था। लेकिन नाम तो था। जैसे कल्लू, लल्लू, बल्लू, जंगली, मन्नू इत्यादि। नौवीं तक तो ख़ैर ये पढ़ लिये, दसवीं में तीन बार फ़ेल हो गए तो पिता ने बड़ी फटकार लगाई। फटकार बुंदेलखंड का लड़का— वो चाहे बाप से ही क्यों न हो— भला सुन कैसे ले! सो ये घर से भाग लिये। अब तालबेहट से भागें तो कहाँ भागें? झाँसी आ गए। कुछ दिन जूते चटकाए फिर देखा पब्लिक सबसे ज़्यादा भगवान से दबती है सो इन्होंने भभूत रचाई, लँगोटी लगाई और चित्रा चौराहे पर बैठ गए। रोज़ सुबह छ बजे से शाम सात बजे तक। दो-एक दिन में कुछ लोग खाना दे जाने लगे। फिर औरतें आकर चारों तरफ़ बैठकर भजन गाने लगीं। उसके बाद कुछ लोग सिद्ध पुरुष मानकर इन्हें 'दंडवत-प्रणाम' करने आने लगे। कोने के होटलवाले ने कहा भैय्या जी महाराज! हियाँ बैठिए...। भोजन हमारे यहाँ कीजिए। तब इन्हें चौराहे के बग़ल का कोना मिल गया जहाँ इन्होंने मन्दिर बना लिया और पूजा करने लगे। अब उस अच्छी-ख़ासी जगह पर इनका क़ब्ज़ा है और भंडारे का खाना उसी होटल में बनता है।

भंडारा, भैय्या जी की पॉपुलैरिटी, उनके भक्तों-श्रद्धालुओं की संख्या और इनकी लोगों में पैठ प्रदेश के नेताओं की नज़र में आई। उन्हें भैय्या जी से बढ़कर जीतने वाला उम्मीदवार पूरे उत्तर प्रदेश भर में न दिखा। धर्म भी, कर्म भी, मर्म भी और ऊपर से जनाधार भी और धनाधार भी! एक पार्टी ने इनको सीधे एम.एल.ए. का इलेक्शन लड़ाने का फ़ैसला किया।

भैया जी से जब इलेक्शन का परचा भरवाया गया तब नाम के कॉलम में हैरान सिंग यादव लिखा गया। पार्टी के वरिष्ठ ने कहा, "बदल दो... हरी ओम सिंग यादव लिख दो।

"ऐसे कैसे बदल दो? स्कूल में लिखा हुआ है।"

"तो क्या हुआ? नेता बनने के बाद सब बदल जाता है। लल्लू का लालू और रबड़ी का राबड़ी हो सकता है तो हैरान और हरी ओम में तो केवल ध्वनि का अन्तर है!" लेकिन सरकारी नाम कुछ भी हो जाए बहरहाल अब भी ये भैय्या जी के नाम से ही जाते हैं।

चित्रा चौराहे से— भंडारा चौराहे से— जो सड़क सीधी सीपरी की तरफ़

जाती है, रेलवे पुल के बाद बायीं तरफ़ जो ताँगों का अस्तबल है उसके ठीक सामने मेन सड़क पर एक बहुत बड़ा आहता है जिसमें कम-से-कम पचास दुकानें हैं और उनके ऊपर बनी जगहों में तक़रीबन सौ परिवार रहते हैं। ये सारा इलाक़ा एक शब्बीर अहमद ख़ान की मिलकियत है। शब्बीर अहमद ख़ानदानी पैसेवाले थे। बाप-दादे ये जगह और पास के गाँवों हंसारी में तमाम लम्बी-चौड़ी खेती छोड़ गए थे। इतना सब कुछ इतनी आमदनी देता था कि उन्होंने न कभी किराए बढ़ाने की सोची न किसी को दुकान ख़ाली करने को कहा। इसलिए सन् उन्नीस सौ पच्चीस में जिसके बाप ने पाँच रुपए माहवार पर दुकान किराए पर ली थी उसकी तीसरी पीढ़ी आज भी पाँच रुपया महीना किराया ही दे रही थी। फिर आज़ादी के बाद आ गया रेंट कंट्रोल एक्ट, सो मकान मालिक जाए दोज़ख में लेकिन क्या मजाल कि कराया बढ़ा पाए, कराएदार को निकलना तो लोहा चबाने से भी मुश्किल था। शब्बीर ख़ान के पाँच औलादें थीं। पाँचों ज़हीन और होशियार। दो लड़कियों की तो– एक की बरेली में दूसरी की लखनऊ में शादी हो गई। एक लड़की की शादी झाँसी में ही इतवारी गंज में एक क़ाज़ी के लड़के से हो गई। लड़के बचे दो– जिसमें से एक डॉक्टर बन गया और दूसरे ने अपना स्टोन क्रेशर का बिज़नेस डाल लिया। दोनों के अपने अपने परिवार थे। बहरहाल सब तरह जीवन ठीक-ठाक चल रहा था। लेकिन उन्हें यह नहीं मालूम था कि पाँच एकड़ और पचास दुकानों के इस ऐन मेन रोडवाले प्लाट पर भैय्या जी रीझे हुए हैं! पिछली बार चुनाव तो वे जीत गए थे लेकिन सत्ता में दूसरी पार्टी थी इसलिए वे कुछ कर नहीं पाए थे। लेकिन इस बार तो प्रदेश में सत्ता उन्हीं की पार्टी की थी और उसमें वे एक महत्त्वपूर्ण मन्त्री थे। इस बार उन्हें कौन रोक सकता था! आखिर उनकी पार्टी के छोटे-छोटे स्थानीय नेता तक तो बन्द घरों के ताले तोड़-तोड़ कर उन पर क़ब्ज़ा कर चुके थे। एक तो सीधा मेसोनिक लॉज के बग़लवाले दो एकड़ में बने बँगले पर पहुँच गया और उसने एक तरफ़ तो रखी पिस्तौल और दूसरी तरफ़ रखे एक लाख के नोट और घर के मालिक से सीधे पूछा, "चाहे जे ले लो...चाहे जे ले लो...। लेकिन चौबीस घंटों में बँगला हमें ख़ाली चाहिए...।"

"हम यहाँ तीन पुश्त से रहते हैं...। हम कहाँ जाएँगे?"

"जे हम का बताएँ?...हाँ कल तक मकान खाली मिलना चाहिए नहीं तो समझ लो...। और उसने हवा में पिस्तौल से फ़ायर कर दिया। मकान के मालिक श्यामा प्रसाद श्रीवास्तव डर गए। घर में अकेले बुज़ुर्ग मियाँ-बीवी रहते थे। बच्चे कोई अमरीका में, कोई सिंगापुर में थे। उनके आने का या मुक़दमा/लड़ाई करने का सवाल नहीं था। श्यामा रात-भर सोए नहीं। लेकिन उनके लड़के अच्छे थे। उन्होंने कहा, "गुंडे हैं...लखनऊ में सरकार भी इनकी ही है... हम क्या कर लेंगे...। आप तो हमारे पास आकर रहिए...छोड़ दीजिए झाँसी... पैसा-जायदाद जो भी भगवान ने दिया सो दिया, न दिया न दिया...! श्रीवास्तव साहेब मन मारते आँसू बहाते चले गए। ऐसे तमाम और भी क़िस्से थे, तमाम और हादसे थे। इस पार्टी के नेताओं के हौसले बुलन्द थे। इनके कार्यकर्ता तक तो अपनी गाड़ी की खिड़की से बन्दूक की नली निकाले चला करते थे!

एक दिन दोपहर के क़रीब तीन बजे की बात होगी शब्बीर मियाँ–बुज़ुर्ग हो चुके थे– खाना खाकर आराम कर रहे थे कि नौकर ने इत्तिला की कि भैय्या जी आए हैं। सीपरी के इलाके के लिहाज़ से पहचानते तो थे ही लेकिन इस वक़्त उसके अचानक आ धमकने से शब्बीर को ज़रा अचम्भा हुआ।

"पा लागूँ ख़ान साब...! शब्बीर के बैठक में आते साथ हैरान सिंग ने झुककर पाओ छूने का नाटक किया।

शब्बीर ख़ानदानी आदमी थे। उन्होंने गुंडों को कभी मुँह नहीं लगाया। सीधे बोले, "कहो क्या बात है? कैसे आना हुआ?"

"अरे दद्दा...। आना तो बहुत दिना से हता लेकिन संजोग नइँ भिड़ रिया था...

"कहो कहो..."

"दद्दा...। जे इत्ती बड़ी जमीन पड़ी तुमाई...। तुम क्या करोगे? जे हमें दे दो!"

शब्बीर को जैसे 440 वाल्ट का करंट लगा... बोले– "हमारी पुश्तैनी ज़मीन है भाई...दे दें तो पुरखों को क्या मुँह दिखाएँ!"

"उनके लिए हम दिए दे रये आपको जे बीस लाख रुपए।" भैय्या जी ने नोटों की एक पुटलिया शब्बीर के सामने रखकर खोल दी।

"देखो भैय्या जी...हमें इसमें न डालो... शब्बीर ख़ान ने अपने हाथ मलते-मलते खिड़की से बाहर देखते हुए कहा, "आप कोई और ज़मीन ले लो...।" फिर उन्होंने सीधे भैय्या जी से मुख़ातिब होकर कहा, "इससे तो हम कुछ कमाते भी नहीं हैं...ये तो बुज़ुर्गों की निशानी के बतौर हम रखे हुए हैं..." ख़ान साहेब ने पुटलिया में नोटों को वापस लपेटा और मेज़ पर भैय्या जी की तरफ़ खिसका दिया।

"सोच लो ख़ान साब!" हैरान सिंग ने कुर्सी में पीछे सरककर आराम से टिकते हुए—एक टाँग पर दूसरी रखकर तेज़ नज़र ख़ान को देखते हुए कहा, "हमें कोऊ जल्दी नइं है...आराम से सोच लो...हप्ता-भर!"

"पहली बार आए हो चाय पीते जाओ...।" शब्बीर ने अपने नौकर को आवाज़ लगाई, "मुज़म्मिल! ज़रा चाय दे जाना यहाँ।"

"नइं ख़ान साब...अब चलेंगे...हप्ते-भर बाद फिर मिलेंगे। फाइनल कर देओ अब आप बस!" हैरान संग यादव ने कुर्सी से उठकर अपना लाल अँगोछा दायें कन्धे से उतारकर एक बार झटका और फिर उसे बाएँ कन्धे पर डाल लिया, "चलते हैं!"

शब्बीर ख़ान ठगे से देखते रह गए।

क़िस्से तो उन्होंने इस पार्टी की गुंडागर्दी के तमाम सुन रखे थे लेकिन ऐसा एक दिन उनके साथ भी होगा इसकी उन्हें उम्मीद नहीं थी।

दो दिन गुज़रे होंगे कि एक अरमाडा गाड़ी रात के दस बजे के आस-पास शब्बीर ख़ान के घर के दरवाज़े पर आकर रुकी और उसमें से दो डाकू क़िस्म के घुटनों तक की मैली-सी सफ़ेद धोती पहने हाथों में बन्दूक लिये लोग उतरे।

"ख़ान किदर है?"

"डॉक्टर ख़ान?...दवाखाना तो बन्द हो गया।" वॉचमन ने कहा।

"मादरचोद!" वॉचमन के गाल पर तड़ाक से बड़ी ज़ोर का थप्पड़ पड़ा, "हम तुझे बीमार लगत हैं? हम डॉक्टर के पास आए हैं?...डॉक्टर का बाप कहाँ है?...बुड्ढा!"

वॉचमन अन्दर गया। शब्बीर ख़ान सोने की तैयारी कर रहे थे। बाहर निकले।

"देखो हम जे कैने आए हैं कि भैय्या जी ने अभी तो बीस लाख का ऑफर दिया है...। हप्ता-भर में जा इलाका हमें बेच दो नइं तो बुढ़ऊ जो तुमे हम दे रय हैं बो भी नइं मिलेगा और जमीन तो तुमाई हम लेई लेंगे...सोच लो!"

उसके बाद बग़ैर कुछ कहे-सुने दोनों बन्दूकधारी वापस अपनी स्टार्ट करी हुई रखी अरमाडा में बैठकर वापस चलने लगे। शब्बीर ख़ान समझ गए कि अब बात हाथ से निकली जा रही है...इन गुंडों की सरकार है और जब सरकार इनकी है तो सुनेगा कौन! बोले, "सुनो! गाड़ी रुक गई।" शब्बीर ने कहा, "भैय्या जी से कहना एक बार आ के मिल लें।"

"ठीक है। गाड़ी चली गई।"

"देखो भाई हैरान सिंग," दूसरे दिन शब्बीर अहमद ने मुलाक़ात में भैय्या जी को पुश्तैनी सुनहरे रिम वाले नाज़ुक से नायब चीनी के प्यालों में इलायची की चाय थमाते हुए कहा, "ज़बरदस्ती हो रही है!"

"हम?...जबरजस्ती?...कभी नइं...। हम ठाकुर हैं...जादव ठाकुर..." शब्बीर अहमद ने अपनी चाय की चुस्की लेते हुए मन में सोचा, 'कब से?...गैय्या चराने वाले अहीर कब से ठाकुर हो गए?' लेकिन बोले कुछ नहीं। सुनते रहे।

भैया जी बोलते गए, "जीबन हमारा गया पूजा-पाठ में...भगवान में लीन हैं हम...और समाजबाद में बिस्वास रखते हैं, अत्याचारवाद या जबर्जस्तीवाद में नइं ...हम तो आपको सीदा-सादा ऑफर दे रये हैं ...आप इज्जतदार अपने पुराने बुजुरुग हैं इसलिए, नइं तो आपकी जगह कोई और होता तो हम का इत्ता रुकते? सीधे ले न लेते! आपसे कोई जबरजस्ती नइं है और बीस लाख कोई कम भी नइं हैं।"

"ऐन शहर के बीच मेन सड़क पर पाँच एकड़ ज़मीन के बीस लाख!"

"और क्या चाहते हो? सड़ी दुकानें हैं और गन्दी नालियाँ भैय रयी हैं इते और है क्या इसमें?" भैय्या जी अब अपनी रूखी औक़ात पर उत्तर आए।

"देखो भैय्या जी...। तुम हो सक्षम...। नेता हो...सरकार तुम्हारी है...हम तुमसे कुछ कह नहीं सकते। ज़मीन तो जो है सो है लेकिन इसमें बैठे हैं पुराने किराएदार ...। उनको अगर हम कोर्ट जाएँगे तो भी हटवा नहीं पाएँगे...इसलिए दुकानें ख़ाली कराने का ज़िम्मा हम नहीं ले सकते!"

"अरे...।" भैय्या जी ने इत्मीनान से अपनी जाँघ पर दायीं हाथ की ताली मारी, "दुकानें हम ख़ाली करवा लेंगे...वो टेंसन आप मत लीजिए। आप तो रजिस्टरी करवा दीजिए फिर सब सालों को हम देख लेंगे...कल हम नखलऊ जा रए हैं...तीन दिना में लौटेंगे। तब तक बैनामे का बन्दोबस्त कर लीजिए।"

मीटिंग बर्ख़ास्त हो गई। भैय्या जी सर हवा में उठाये अपनी स्कार्पियो के सामने वाली सीट पर बैठ कर चले गए। शब्बीर अहमद की त्यौरियों पर बल पड़ गए...वे चाय भूलकर न जाने कहाँ अन्तरिक्ष में खो गए। रात-भर सोचते रहे कि करें क्या। फिर सोचा कि अपनी ज़मीन जाएगी सो तो जाएगी ही इन पुश्तों से बैठे किराएदारों को ये लोग निकाल देंगे तो इनका तो धन्धा चौपट हो जाएगा! सुबह होते ही शब्बीर ख़ान ने सब किराएदारों की एक मीटिंग बुलाई। कुछ आए, कुछ नहीं आए।

हैरान सिंग ज़मीन हड़पना चाहता है–सुनकर सब के होश सुन्न पड़ गए। छोटे-बड़े सब दुकानदार शब्बीर अहमद की मजबूरी समझते थे। इन किराएदारों में पाँच-छः डॉक्टर भी थे जो यहीं से प्रैक्टिस शुरू करके यहीं बुड्ढे हो चुके थे। डॉक्टर मनचन्दा भी उनमें से एक थे। डॉक्टर मनचन्दा ने उसी शाम उस इलाके के सभी डॉक्टरों की अलग से मीटिंग बुलाई। डॉ. मनचन्दा झाँसी में वो शख़्स थे जिनके यहाँ शहर के कलक्टर, कमिश्नर और पुलिस तक के वरिष्ठ अधिकारी इलाज के लिए आते थे। एक का तबादला होता तो वो अपनी जगह आए नए अफसर को इनका पता दे जाता। हाथ में शफ़ा थी और इख़्लास में चाशनी। डॉ. मनचन्दा ने कलक्टर को फ़ोन किया। कलक्टर ने कहा, "मेरी तो नौकरी का सवाल पड़ रहा है...भैय्या जी से कुछ कहना मतलब कैरियर बर्बाद करना है... सुपरिंटेंडेंट पुलिस ने बात सुन ली और उसके बाद इनका फ़ोन लेना बन्द कर दिया। मिस्टर जीवराजका ज़िले में नए कमिश्नर हो कर आए थे। उनकी ईमानदारी और निष्पक्षता के चर्चे ज़ोर-शोर से थे। मनचन्दा उनसे मिले। कमिश्नर ने कहा कि एक्शन लेने के लिए कोई कारण, कोई कम्प्लेंट कुछ तो होना चाहिए। एक आदमी ज़मीन बेच रहा है दूसरा ख़रीद रहा है– वो चाहे जैसे भी हो चाहे जितनी ज़ोर-ज़बरदस्ती से हो– कोई क़ानून तो नहीं टूट रहा है न...कोई शिकायत तो दर्ज नहीं की जा रही है न...। तो सरकार क्या और कैसे एक्शन लें! डॉ. मनचन्दा ने रातोंरात ख़बर सब किराएदारों को पहुँचा दी कि अब समझ लो कि ये जगह गई।

कुछ ने आनन-फ़ानन में शब्बीर अहमद से अपनी दुकान के बैनामे करवाने का इन्तज़ाम कर लिया। कुछ ने सोचा कि दूकान ख़रीद भी लें तो भी पाला तो हैरान सिंग से ही पड़ेगा। तब उससे कौन बैर लेगा, इसलिए जगह छोड़ देने में ही भलाई समझी।

एक किराएदार उसमें सुनिया काछिन भी थी। उसके पति ने कभी एक छोटी-सी दुकान वहाँ भाजी-तरकारी की लगाई थी। उसकी मृत्यु के बाद उसकी पत्नी सुनिया वहाँ बैठने लगी थी। काली, मोटी, बदज़बान, रहमदिल और बेहद ईमानदार औरत, जिसे कुछ पास के स्कूल से निकलते हुए लौंडे-लपाड़े जब 'भटा-चाची' कहकर चिढ़ाते थे तो जिस तरह वह उनके पीछे सोंटा लेकर मारने दौड़ती थी उससे लौंडों को बड़ा मज़ा आता था। मज़ा तो सुनिया भी लेती थी और इतवार के दिन जब ये लड़के नहीं गुज़रते थे उस दिन उन्हें वह बहुत 'मिस' करती थी– शायद इसलिए कि उसके एक लड़का हो के सिधार चुका था और उसके बाद उसकी कोई औलाद नहीं हुई। अकेली थी और शायद किसी तरह अपने को व्यस्त रखने के लिए हमेशा कुछ-न-कुछ करती ही रहती थी।

'ये जगह गई' वाली बात जब सुनिया ने सुनी तो भड़क उठी। वोली, "जे जगा हमाये मरद की है...। और जब तक हम मरहें नईं जे हम छोड़वे वारे नईं। खूब जानत हैं हम बा भभूतिया हैरान सिंग की असलियत...। हराम को जनो..." फिर सुनिया ने सब किराएदारों को खरी-खरी सुनाई, "तुम ससुरो आदमी हो के गैय्या बकरिया...एक गुंडा आ के हमें हकाले और तुम हकल गए!" लेकिन दुकानदारों में तो सब्र, सहिष्णुता, सौहार्द्र और भाईचारे का ख़ून भरा था सो उन्होंने सुनिया की बात सुन ली, मान भी ली और चुप भी रह लिये।

हालाँकि भैय्या जी 'नखलऊ' चले गए थे लेकिन उनके भक्त तो झाँसी में ही थे। और ये तो तक़रीबन तय ही हो चुका था कि अब ये इलाक़ा भैय्या जी ही लेने वाले हैं। इसलिए इस जगह में जहाँ-जहाँ ख़ुदा पड़ा था उसे समतल करने और मिट्टी पूरने के आर्डर हो चुके थे। दो बड़े-बड़े फ्रंट डिगर/लोडर– एक मेन सड़क से और दूसरा अन्दर की तरफ़ से- ख़ुदाई करने और ज़मीन समतल करने पहुँच गए।

शाम हो चुकी थी। सूरज डूबने का वक़्त था। मग़रिब की अज़ान हो चुकी थी और रोशनी बस जलने ही वाली थी कि एक लड़का दौड़ता हुआ सुनिया की दुकान के सामने से गुज़रा, उसने एक सेकेंड के लिए सुनिया की तरफ़ देखा और उसे 'भटा-चाची' चिढ़ाकर मुस्कुराकर भागा। सुनिया उसके पीछे एक लम्बी लौकी लिये मारने उतरी। लड़का और तेज़ भागा। उसी दम आहते के अन्दर की तरफ़ से आने वाले तेज़ रफ़्तार डिगर/डम्पर ने इलाक़े के अन्दर आकर ज़मीन में अपना फन गाड़ दिया। इस आनन-फ़ानन और तेज़ रफ्तारी में इत्तेफ़ाक़ ये कि डम्पर के फन में लिपट कर आ गया वो तेज़ भागता हुआ बच्चा और तक़रीबन समझिए कि ज़मीन में गड़ ही तो गया। बच्चे की चिल्लाहट और चीत्कार डिगर की दहाड़ती आवाज़ में डूब गई लेकिन आस-पड़ोस ने देखा तो अफरा-तफरी मच गई। सुनिया ने देखा तो उसके जान हलक में और ख़ून आँखों में उत्तर आया। और जब उसने लड़के को ज़ख़्मी देखा तो वो दौड़कर आई और डिगर/डम्परवाले के सामने आकर खड़ी हो गई। चिल्लाई, "उतर साले...नीचे उतर।"

डिगर का ड्राइवर नीचे आया तो सुनिया ने उसे तड़ातड़ तमाचे लगाए। आसपास खड़े लोगों को ललकारा कि वे ज़ख़्मी बच्चे को डॉक्टर के यहाँ ले

जाएँ और फिर अड़ गई कि जब तक भैय्या जी नहीं आते ये डम्पर/डिगर और उसका ड्राइवर कहीं नहीं जाएगा। भैय्या जी के गुंडों को ख़बर लगी। वे अपनी अरमाडा में पधारे। उन्होंने सुनिए को लातों और घूसों से नवाज़ा। लेकिन तब तक एक तो चारों तरफ़ भीड़ बढ़ गई दूसरे डॉ. मनचन्दा ने पुलिस स्टेशन को रिपोर्ट कर दी और कमिश्नर को इत्तिला कर दी। पुलिस की गाड़ी आ तो गई लेकिन उसने टालमटोल करना शुरू कर दिया। आख़िर नौकर अपने सरकार के ख़िलाफ़ कैसे जाता! अखबार वालों को ख़बर लग गई। वे भी पहुँच गए। अरमाडा और गुंडे बीच में, भीड़ चारों तरफ़ और सुनिया सीधे सामने अड़ी हुई! लाख पिटाई खाकर भी वो उन गुंडों को छोड़ने को तैयार नहीं थी।

"तैने बच्चा को मारा है...में तोय नईं छोड़ूँगी...

"हट जा चुड़ैल...। नईं तो गोली मार दूँगा!"

"मार दे...। मेरा कौन बैठा है रोने को...।"

भैय्या जी के गुंडे ने तमंचा निकाल लिया। इंस्पेक्टर ने उसके कान में कहा, "सर, ऐसा मत कीजिए वरना मजबूरन केस बनाना पड़ेगा।" गुंडे ने इंस्पेक्टर को बाएँ हाथ से धक्का मारा, "केस की माँ का...साले तुम हमाये ख़िलाफ केस बनाओगे? मादर चोद...!"

इंस्पेक्टर ने गुंडे से फिर इसरार किया और उसका हाथ पकड़ने की कोशिश की। इस अफरा-तफरी में पिस्तौल चल गई और सामने खड़ी एक औरत की पसलियों में गोली लग गई। इस हादसे की एक पत्रकार ने फोटो खींच ली और सीधा भागा अपने अख़बार के दफ़्तर ताकि कल की 'ताज़ा ख़बर' में छपवा सके, औरत मरती-जीती स्थिति में डॉक्टर के पास ले जाई गई। लोगों में रोष तो था लेकिन सब तमाशबीन बने खड़े थे। फिर अचानक किसने किया ये तो पता चलना मुश्किल रहा लेकिन किसी ने अरमाडा का फ्यूल पाइप निकालकर उस पर जलता लाइटर फेंक दिया। अरमाडा में आग लग गई। गाड़ी जलने लगी। लोग छूटने लगे। सुनिया अड़ी रही, पिटती रही और गुंडों को कॉलर से पकड़े खड़ी रही। दूसरे दिन से भंडारा चौराहे से इधर नगरा और उधर आर्य कन्या विद्यालय तक कर्फ़्यू लगा दिया गया।

भैय्या जी 'नखलऊ' से तीन दिन की बजाय दो दिनों में ही वापस आ गए। हालाँकि इस वारदात का जिक्र झाँसी के बाहर के अख़बारों तक में हुआ लेकिन भैय्या जी की पार्टी के वरिष्ठों के लिए ये कोई 'बड़ा' हादसा नहीं था। हाँ! ये ताक़ीद ज़रूर की गई कि 'अभी मामला गर्म है, थोड़े दिन के लिए ज़मीन लेना मुल्तवी कर दो'। लोगों को मौक़ा मिल गया। इस दौरान इलाके के सबने मिलकर अदालत में ज़मीन के हस्तान्तरण पर स्टे ले लिया। औरत जिसे गोली लगी थी उसका एक हिस्सा बेकार हो गया था और लड़का जिसके साथ दुर्घटना हुई थी उसके दोनों हाथ जाते रहे थे। सब गुस्से में थे और नेता से बदला न ले पाने के कारण क्षुब्ध भी थे। 'नखलऊ' से लौटकर दूसरे दिन भैय्या जी ने इलाके में मीटिंग बुलाई। मंच बना, माइक लगा, फूल बिछाए गए। लोगों की भीड़ बुलाई गई। कुछ लोग आए भी। रात को भैय्या जी आए। बस उन्होंने घटना के लिए अफ़सोस ज़ाहिर करना शुरू ही किया था कि सुनिया काछिन सिक्योरिटी वालों के लाख रोकने के बावजूद स्टेज पर चढ़ गई और उसने भैय्या जी की क़मीज़ फाड़ डाली।

सुनिया की हिम्मत देखकर जिसकी बीवी और जिसका बेटा ज़ख़्मी हुए थे वे और और लोग भी मंच पर चढ़ने लगे। हालात हाथ से निकलने लगे तो भैय्या जी तो सिक्योरिटी की मदद से स्कार्पियो में वापस चले गए। कमांडोज़ ने सुनिया को मंच से सड़क पर फेंककर खचोर् खचोर् कर मारा। फिर जब वो अधमरी और बेहोश हो गई तो उस पर अपनी मशीनगन से कई-कई गोलियाँ दागकर उसे वहीं सड़ने के लिए छोड़कर चले गए। शायद लोगों को इबरत हासिल कराने के लिए।

इस वारदात को तक़रीबन साल-भर के ऊपर होने आया है। अब आप सीपरी में अगर वहाँ से गुज़रें तो देखिएगा कि इलाक़े के शुरू में मेन सड़क पर सीमेंट का एक बड़ा-सा दरवाज़ा बनाया गया है और अन्दर घुसते साथ ही बीचोंबीच लगी है सुनिया काछिन की एक ऊँची-सी मूर्ति जिसको आते-जाते लड़के अब मुँह नहीं चिढ़ाते, उसके पैर छूकर गुज़रते हैं।

अब ये इलाक़ा सुनिया कम्पाउंड के नाम से जाना जाने लगा है और ये तय हो चुका है कि प्रदेश में सरकार चाहे किसी भी पार्टी की आए सुनिया कम्पाउंड को कोई अब हथिया नहीं पाएगा!

मानो तो वो देव

मुस्तफ़ा ज़ैदी ख़ुदापरस्त भी थे और इन्सानपरस्त भी। नगरपालिका के उर्दू मदरसे में सारी ज़िन्दगी टीचर रहे। उर्दू और फ़ारसी के आलिम थे। पाँचों वक़्त की नमाज़ करते थे। रामपुरी टोपी, अलीगढ़ी पायजामा और सीधा-सादा बग़ैर कलीवाला कुरता, यही समझिए कि उनकी पोशाक बन गई थी। सर्दी पड़ी तो ज़्यादा-से-ज़्यादा कोट पहन लेते थे, वरना शॉल में गुज़ारा कर लेते थे। ख़ुदा पर उन्हें अटूट भरोसा था, इन्सान और शराफ़त से तमाम उम्मीदें थीं और फर्रुख़ाबाद में अपने मुकरियाना मोहल्ले के टूटे हुए पुश्तैनी मकान से बेहद लगाव था। इसलिए 1947 के दंगों में जब उनके घरवालों ने पाकिस्तान जाने का इरादा कर लिया तो पूरे ख़ानदान में एक वे ही थे जो नहीं गए। और रह गए तो रह गए। वे कहते थे कि मैं यहीं पैदा हुआ, यहीं पला-बढ़ा और यहीं मरूँगा। यही मेरा वतन है यही मेरा मुक़द्दर। और अपने मुक़द्दर और मुस्तक़बिल दोनों को उन्होंने अपने लड़के सलमान की शक्ल में ढाला। सलमान को उन्होंने पढ़ाया-लिखाया। इन्सानियत, शराफ़त और एक-दूसरे से भाईचारे की तालीम दी और ख़ुदा पर भरोसा रखना सिखाया।

सलमान मेहनती भी था और ज़हीन भी। 1980 के आस-पास की बात है। अव्वल दर्जे में ग्रेजुएशन करने के बाद उसने सोचा कि अब उसे कोई काम करना चाहिए और कमाना शुरू कर देना चाहिए क्योंकि वालिद का फर्ज़ अब पूरा हो चुका है और लड़के का फर्ज़ शुरू होना है। सलमान ने यूपीएससी का फ़ॉर्म भरा और आईएएस का इम्तिहान दे डाला। पहली ही बार में सेलेक्शन हो गया।

तीन साल बाद जब मुस्तफ़ा ज़ैदी का लड़का सलमान ज़ैदी कलक्टर बनकर अपने ही शहर में आ गया तो लोग वाक़ई ख़ुश हुए। सपने सँजोए गए कि चलो इसी शहर में पला-बढ़ा लड़का यहीं डीएम के ओहदे पर आ गया है। अब इस शहर की सारी मुश्किलें आनन-फ़ानन में दूर हो जाएँगी। तबादला नया-नया था इसलिए बँगले के तैयार होने तक सलमान अपने घर पर ही

ठहरा। रोज सुबह सरकारी गाड़ी आती और दफ़्तर ले जाती, शाम को छोड़ जाती। कभी-कभी शाम को पार्टियाँ वग़ैरह में ले जाने के लिए भी गाड़ी खड़ी रहती। पुलीसवालों की जीपें खड़ी रहतीं, छोटे शहर के छोटे से मोहल्ले की सँकरी सड़कें। हालाँकि सलमान के आते ही दोनों तरफ़ अच्छी तरह सफ़ाई करवा दी गई थी लेकिन फिर भी सड़कें इतनी चौड़ी थोड़े ही थीं कि इतनी गाड़ियाँ एक साथ आ-जा सकें। साइकिल से गुजरने वाले भी साइकिल से उतर कर बच-बचाकर किसी तरह निकल पाते थे।

पड़ोसियों के बच्चों ने कहीं और खेलना शुरू कर दिया। कुछ ने खेलना छोड़-छाड़कर गाड़ियों और ज़ैदी साहब के घर के माहौल को बड़े चाव से ताकना शुरू कर दिया। ज़ैदी साहब के घर लाइन लगने लगी। मुँह उधर फेरकर गुज़र जाने वाले भी बेवजह सामने आकर सलाम करने लगे। नमस्कार या राम-राम से अभिवादन करने वाले आदाब अर्ज़ पर उतर आए। सलमान के जाने के वक़्त या आने की आवाज़ सुनकर परदे वाली औरतें भी दरवाजे की साँसों से टकटकी लगाए देखती रहतीं। मस्जिद के इमाम की दाढ़ी तन गई। मुसलमान नेताओं ने वहीं घर बना लिया। वह तो शुक्र है कि तीन हफ्तों में ही सलमान अपने बँगले में शिफ्ट कर गया वरना लोग न जाने वहाँ और क्या-क्या करते।

बहरहाल! नया नवेलापन, मिश्री ढले हुए सलाम जब पुराने पड़ गए तो काम की तमाम बातें यों होने लगीं कि सलमान को लोग कलक्टर कम और पड़ोसी, दोस्त, बेटा या मुसलमान ज़्यादा समझने लगे। किसी को लाइसेन्स चाहिए, किसी को पेट्रोल पम्प लगवाना है, किसी को एक दिन के लिए सरकारी गाड़ी चाहिए, किसी को शादी के लिए लाइट के कनेक्शन में समस्या हो रही है उसके लिए कुछ करवाना है, किसी का मुक़दमा उसकी अदालत में फँसा है जिसे जल्दी निबटवाना है, किसी ने ज़मीन का लगान नहीं भरा है उसकी ताक़ीद है कि सरकार उसकी ज़मीन कुर्क न करवा ले। हज़ारों लोगों को नौकरियाँ चाहिए हैं, किसी को उसे अपने जलसे में बुलवाना है। सलमान ज़ैदी की बहरहाल ऐसी की तैसी हो गई! उसकी बीवी ने कहा कहाँ फँस गए, क्योंकि शहर की औरतें उसे कलक्टर की बीवी तो मानती ही नहीं थीं। उसे तो वे बहन, बेटी, बहू या आपा समझती थीं।

शहर के सोशल ग्रुप्स के अलग मसाइल थे। मुसलमानों ने सोचा कि मस्जिद के बढ़ाने का प्लान जो बरसों से धूल चाट रहा है अब पास हो जाएगा। हिन्दुओं ने सोचा कि गणेश मढ़िया की समस्या तो 'इसे' हल करना ही पड़ेगी।

नहीं तो इसकी कलक्टरी खतरे में पड़ जाएगी। महिला मंडल ने सलमान की बीवी को पकड़ा। भटनागर साहब सिविल सरजन थे, सो उन्होंने अपने लिए कुछ जमीन शहर के आस-पास सस्ते में अलॉट करवाने का ज़िक्र कर दिया।

सलमान ने सोचा इस तरह तो कामकाज कुछ हो नहीं पाएगा। उसने एक रास्ता खोजा। उसने इन तमाम लोगों से कहा कि सब्र करो, पहले मैं वह करूँगा जो कि शहर की बेहतरी के लिए सरकार ने सोच रखे हैं, लेकिन अभी तक अमल नहीं हो पाए हैं। बहुत ऊँ-आँ हुई पर लोगों को बात माननी पड़ी।

लेकिन इस बात की आड़ में फिर सोशल ग्रुप्स पहुँच गए कि शहर की भलाई के लिए सबसे पहले आँतिया ताल वाली सड़क, जो नई बस्ती की तरफ़ मुड़ती है, उसे चौड़ा किया जाए। ये वो जगह थी जहाँ सड़क कुछ ऐसे मोड़ लेती थी कि इधर वाले को उधर का और उधरवाले को इधर का कुछ दिखाई नहीं देता था। इस वजह से शहर-भर में जितनी दुर्घटनाएँ यहाँ होती थीं और कहीं नहीं होती थीं। प्लान के काग़ज़ात निकलवाए गए। टेंडर मँगवाए गए। काम के शुभारम्भ में कलक्टर साहब को बतौर मुख्य अतिथि बुलाया गया। सामने बैठे मुस्तफ़ा ज़ैदी गर्दन हवा में किए अपनी अचकन पर शिकन न पड़ने देते थे और जब लोगों ने हार पहनाकर सलमान के वेलकम में तालियाँ गड़गड़ाईं तो ज़ैदी साहब का कलफ़ किया हुआ रूमाल आँसुओं से भीग गया। पंडित राम नारायण हिन्दुओं के नेता कहलाते थे। उन्होंने नारियल फोड़ा। आफाक़ हुसैन मुसलमानों के नेता थे सो उन्हें भी स्टेज पर बैठने का मौका मिला। रात की नमाज़ के बाद आफाक़ हुसैन ने सोचा मौका अच्छा है, सही आदमी से, सही बात कह डाली जाए। उन्होंने इमाम साहब को सलाम किया और वहीं जाज़िम पर उनके पास बैठ गए।

'क्या ज़माना आ गया इमाम साहब!'

'ज़माना तो शुरू से ही ऐसा है भाई! क्यों क्या हुआ?'

'यानी आप बताइए कि वह हिन्दू कमबख़त तो नारियल-वारियल फोड़े, फोटो खिंचवाए, हीरो बना फिरे और अपना ही आदमी हमें सिर्फ स्टेज पर बैठा दे। माइक पर बोलने का मौक़ा भी न दे, अब देखिए आज का कितना अच्छा मौक़ा था, तमाम लोगों के सामने बोलने का मौक़ा मिलता, नई पहचान हो जाती। लेकिन साहेब नहीं!'

'अरे, मुल्क ऐसे ही लोगों का है भाई! लेकिन इसमें सलमान का तो ख़ैर नहीं लेकिन हाँ मुस्तफ़ा ज़ैदी का ज़रूर मैं कहूँगा के सख़्त कसूर है। वह मुसलमानों का कुछ ख़्याल नहीं कर रहे हैं।'

'उनसे भी कह के देख लिया। बोले हिन्दू और मुसलमान कोई अलग-अलग हैं क्या? एक ही मुल्क है, एक ही लोग हैं। उन्हें अलग करने वाले तो तुम लोग हो! लीजिए! बताइए, हम मुसलमानों के हक़ के लिए लड़ें, मरें और वे कहें कि हम उन्हें अलग-अलग कर रहे हैं!'

पंडित राम नारायण के घर जश्न मना। उनके गले में तमाम मासूम फूलों के हार डाले गए।

'कमाल कर दिया पंडित जी आपने तो। उस कटुए की तो आज ऐसी-तैसी हो गई होगी। कोई पहचाने ही नहीं उसे तो।'

पंडित जी फूल गए।

तीन दिन बाद काम शुरू हुआ। बस ठेकेदार के आदमियों ने सड़क के बीचोबीच लगे बरगद के पेड़ पर आरा चलाना शुरू किया ही था कि शहर भर में ख़बर फैल गई कि मन्दिर टूट रहा है।

वह था क्या कि इस पुराने बरगद के पेड़ में सालहासाल से एक खता हुआ हिस्सा था जिसमें किसी ने कभी सिन्दूरी रँगकर दो बटैय्याँ रख दी थीं। फिर उन पर कभी किसी ने अगरबत्ती लगा दी होगी। बस तब से आस-पास की झोपड़ियों की औरतें मंगल के रोज शाम को वहाँ दीया जला दिया करती थीं। इस तरह वह मन्दिर हो गया। लोगों ने सुना कि मन्दिर टूट रहा है तो कोहराम मच गया। पंडित राम नारायण एकदम उठ खड़े हुए। बीवी ने कहा, 'खाना तो खाते जाओ।'

पंडित जी गुस्से में बौखलाए हुए बोले, 'वहाँ भगवान के साथ मजाक हो रहा है और तुम्हें खाने की पड़ी है!'

जब तक पंडित जी पहुँचे सड़क पर पेड़ के चारों तरफ़ क़रीब पाँच सौ लोग जमा हो चुके थे। पंडित राम नारायण ने बाक़ायदा एक स्टूल पर चढ़कर भाषण दिया। लोगों को अपने धर्म और फर्ज से आगाह कराया। नारे लगवाए और सबकी तरफ़ से पेड़ के खते हुए हिस्से में एक छोटी-सी शाख़ पर चढ़ाकर एक भगवा झंडा लगा दिया। काम बन्द हो गया।

सड़क जो भले ही सँकरी रही हो, आने-जाने के काम तो आती ही थी। अब वह मिट्टी, पत्थरों, आरों, औजारों की भीड़ की वजह से पैदल निकल पाने के क़ाबिल भी न रही। पेड़ अधकटे तने पर खड़ा रहा।

सलमान साहब दौरे पर थे। फ़ौरन बुलवाए गए। सीधे साइट देखने गए।

पंडित राम नारायण जो एक ज़माने में सलमान के स्कूल में उनके जूनियर थे, बुलावे के इन्तजार में ख़ुश होते रहे। बुलावा भेजा गया। दरवाजे के अन्दर कलक्टर और पंडित जी में बातचीत हुई। बाहर सैकड़ों की भीड़ जमा होती रही। पंडित जी अड़े थे कि सिन्दूरी बट्टियाँ जिन्हें लोग पूजते हैं उन्हें कुछ नुकसान नहीं होना चाहिए।

सलमान ने कहा, 'इसमें कोई मुश्किल नहीं है। परेशानी तो उस पेड़ से है। भगवान की मूर्तियाँ उठाकर हम सड़क के बग़ल में एक मन्दिर बनाकर उसमें स्थापित करवा देते हैं।'

पंडित जी बोले, 'तो ये काम तो सड़क बनने से पहले होना चाहिए।'

'इसमें भी कोई मुश्किल नहीं है। प्लान हमारे पास है, उसके हिसाब से जहाँ सड़क खत्म होगी उसके पाँच फिट किनारे पर मन्दिर पहले बनवाए देते हैं। पेड़ फिर कट जाएगा।'

पंडित जी को लगा कि अगर इतनी आसानी से मामला सुलट गया तो उनकी कुछ न बचेगी। विधान सभा चुनाव को तीन महीने बाकी हैं। अगर तब तक यह मुद्दा न चला तो जीतेंगे किस बूते पर। फौरन घुड़के, 'सड़क से पाँच फिट दूर! ऐसा नहीं हो सकता।'

'क्यों क्या फर्क पड़ जाएगा? मन्दिर तो फिर भी मन्दिर ही रहेगा।'

'मैं मन्दिर की बात नहीं कर रहा हूँ। मैं देवता की बात कर रहा हूँ। देवता को उनकी जगह से कैसे हटाया जा सकता है?'

'अरे हटा कौन रहा है भाई! मन्दिर बनवा रहे हैं उनके लिए!'

'नहीं, नहीं। मन्दिर बनवाना है तो उसी जगह बनवाइए।'

'पेड़ न काटें?'

'पेड़ का क्या है... दस काट डालें। लेकिन मन्दिर वहीं बनवाएँ।'

'सड़क के बीचोबीच?'

'नहीं तो क्या! देवता को कोई विस्थापित करता है क्या?'

'यार, राम नारायण तुम भी।' सलमान से पहले तो कुछ बोलते नहीं बना। फिर उसे ग़ुस्सा आ गया, 'सड़क चौड़ी करने का प्रोग्राम चल रहा है या सड़क के बीचोबीच एक अड़ंगा खड़ा करने का? बेवजह की बात करते हो तुम!'

पंडित जी का काम हो गया। अन्दर-ही-अन्दर मुस्कुराए फिर प्रत्यक्ष रूप से लाल-पीले होकर चिल्लाए। 'आप मन्दिर को अड़ंगा कहते हैं!'

'मैंने ऐसा कब कहा?'

ख़बर फैल गई कि नया कलक्टर मन्दिर तुड़वाकर सड़क बनवाना चाहता है। लोग पेड़ और आवाजाही की अड़चन की बात भूल गए।

लोगों को यहाँ तक समझाया गया कि साँप का बच्चा आखिर साँप ही निकला। है तो मुसलमान। यही अगर मस्जिद का मामला होता तो क्या तुड़वा डालता?

सभाओं, समारोहों, अखबारों—सभी में बात इतनी उछाली गई कि सलमान के तबादले की नौबत आ गई। घर के सामने वे ही निगाहें जो कभी हौंसले और कौतूहल के साथ तकती थीं अचम्भे और शुबहे से भर गईं। ज़ैदी साहब की गर्दन चेहरा छुपाने लगी। हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच की दरार जो दिखती न थी फिर उखड़ आई।

चुनाव सिर पर आ गए थे। प्रचार पूरे ज़ोर पर था। बात यहाँ तक पहुँची कि सलमान का शहर में कलक्टर रहना हिन्दू उम्मीदवारों के लिए 'नुक़सानदेह' हो गया। चुनाव की तारीख सार्वजनिक होने से पहले जल्दी-जल्दी में सलमान की जगह रघुनाथ सिंह को कलक्टर नियुक्त किया गया। हवा थोड़ी ठंडी पड़ी।

आँतिया ताल वाला रास्ता शहर के तमाम लोगों को कचहरी, स्कूल, कॉलेज, सिविल अस्पताल से जोड़ता था। वहीं से आना-जाना था। पिछले दो महीनों से मन्दिर के झगड़ों में वह बन्द पड़ा था। सड़क के किनारे बहने वाली नाली अब बहने की बजाय वहीं ठहरकर कीचड़ बन चुकी थी। लोगों को आने-जाने के लिए लम्बे रास्ते से घूमकर जाना पड़ता था। लेकिन पंडित जी की धाक जम चुकी थी। चुनाव में जीपों को आने-जाने में सुविधा रहे और जन जीवन सुचारु रूप से चल सके, इसलिए नए कलक्टर से अनुरोध किया गया कि सड़कवाला मामला जल्दी सुलझाया जाए।

रघुनाथ सिंह ने पूरी कहानी सुनी। उसने भी वही तजवीज किया कि सड़क के बगल में मन्दिर बनवा दिया जाए जिसमें मूर्तियाँ स्थापित करवा दी जाएँ ताकि सड़क आसानी से बनाई जा सके। लेकिन चुनाव से पहले यह मान लेना पंडित जी के लिए ख़ुदकुशी के बराबर होता। हाँ! चुनाव का खर्च बचाने के लिए सड़क बनाना जरूरी था। अब तो कलक्टर भी हिन्दू था और रघुनाथ सिंह अड़ा हुआ था।

सलमान के तबादले के बाद शहर के सही दिमाग़ लोग जो पंडित राम नारायण को स्वार्थी, व्यापारी, राजनीति करने वाला कहते थे।

इतने दिनों की आवाजाही की परेशानी के बाद और बुरा-भला कहने लगे।

यह बात और लोगों की समझ में भी धीरे-धीरे आने लगी। गरज ये कि शहर से पंडित जी के जीतने के आसार ज़रा-ज़रा कम दिखने लगे।

मामला अब करो या मरो पर आ टिका था। दोस्तों ने सलाह दी कि चुनाव में कुल सात दिन बचे हैं, कुछ ऐसा पैंतरा खेल जाओ कि लोगों के दिमागों में सरकार के प्रति गुस्सा और पंडित जी के लिए दोस्ताने का जज़्बा पैदा हो जाए। एलआईयू ने इसकी झलकी रघुनाथ सिंह तक पहुँचा दी। उसने पुलिस को तैयार रहने का हुक्म दे दिया।

चुनाव से तीन दिन पहले रात के क़रीब एक-डेढ़ बजे पंडित राम नारायण का एक प्रचारक आरा-चले अधमरे बरगद के खते हुए हिस्से में पड़ी सिन्दूरी बट्इयों को उठाकर सड़क के किनारे फेंक आया। सुबह तक कोहराम मच गया। मोर्चे निकाले गए। कलक्टर निवास घेर लिया गया। रघुनाथ सिंह को धर्मविरोधी होने का फ़तवा दिया गया। अख़बारों ने उल्टा ज़हर घोला। शाम तक हवा कुछ यों गर्म हुई कि लोगों ने घर से निकलना सुरक्षित नहीं समझा। पंडित जी के आदमी इधर-उधर जीप दौड़ाते फिर रहे थे।

चुनाव के केवल दो दिन बचे थे। प्रचार बन्द करने का समय आ चुका था। कोई आधा घंटा बचा था कि इतने में बरगद का पेड़ जो अब तक आरा खाए आधा खड़ा था भरभराकर गिर पड़ा।

चारों तरफ़ धरना दिए लोगों में से कुछ ज़ख़्मी हुए। भगदड़ मच गई। दूर खड़ी पुलिस ज्यों ही पास आई कि पंडित के कार्यकर्ताओं ने लोगों में मारपीट शुरू कर दी। हुक्म था ही। पुलिस ने पहले लाठी फिर गोली चला दी। कौन मरा कौन बचा, यह तो पता नहीं लेकिन शाम तक दूरदर्शन की कैमरा टीम मौका-ए-वारदात पर पहुँच गई और उस रात लोगों ने देखा कि वे सिन्दूरी बटैय्याँ, जिनका मन्दिर बनवाने में सबको ऐतराज था सड़क के किनारे कीचड़ में लथपथ पड़ी हैं और वहीं कीचड़ में घुला-घुला-सा सड़ रहा है मरे हुए कुछ लोगों का ख़ून।

समाचार पढ़ने वाली लड़की ने अँग्रेज़ी में बताया कि शहर के चुनाव मुल्तवी कर दिए गए हैं।

राजनीति के साइड इफेक्ट्स

''आए दिन वो हमें मारें-पीटें, सड़क पर सवारी बसों पर पत्थर फेंकें और हम चुप खड़े देखते रहें...ये जो हो रहा है न...यह सब उसी का नतीजा है...''

''तो क्या करते?...मार-पीट शुरू कर देते?...दंगा करते?...अरे नाली में पत्थर फेंकोगे तो कीचड़ तो अपने ऊपर ही उड़ेगा न...!''

''कीचड़ है तो पहले वो कीचड़ साफ़ करो करसन भाई... बहुत हो गया!''

अहमदाबाद के लॉ गार्डन के सामने वाली गली में प्रादेशिक राजनीतिक पार्टी के ज़िला अध्यक्षा शंकर भाई पटेल के घर पर मीटिंग चल रही थी, शहर के बड़े-छोटे सारे नेता मौजूद थे।

''अच्छा नाली-वाली साफ़ करते रहना, मुझे तो ये बताओ कि इस बार रथ यात्रा निकलेगी या नहीं?''

''पिछले पचास सालों से ऐसा कोई साल नहीं गया जब अहमदाबाद में रथ यात्रा न निकली हो...इस साल भी निकलेगी।''

''हिम्मत है?'' एक ने सर आगे करके हाथ झुलाते हुए आँखें नचाकर बोलने वाले से पूछा।

''शान्ति रखो...'' शंकर भाई जो अब तक सब की बात सुन रहे थे अब अपनी पालथी का पाँवों बदलकर गला साफ़ करते हुए बोले, ''मैं मुख्यमन्त्री से बात करूँगा, रथयात्रा निकलने की सिफारिश करूँगा... पक्का बन्दोबस्त माँगूगा''

''शंकर भाई, रथयात्रा निकलनी ही चाहिए...''

''जो भी हो उनकी हिम्मत देखो कितनी बढ़ गई है 'रथयात्रा नहीं निकलने देंगे'...ये सब सरकार की दोगला नीतियों के कारण हुआ है''

तमाम गाली-गलौज हुए, भड़ास निकाली गई, चाय पर चाय चली और रात के ग्यारह बजे जब मीटिंग समाप्त हुई तब सब के दिल में ये था कि अगर रथयात्रा न निकल पाए तो अच्छा है क्योंकि उस सूरत में सत्ता पक्ष दोबारा चुनकर नहीं आएगा और प्रादेशिक पार्टी को सरकार बनाने का पूरा चांस

मिलेगा।

लेकिन ये बात तो सत्तापक्ष भी जानता था, उसके नेतागण शहर के जिन गुंडों ने रथयात्रा न निकलने देने की धमकी दी थी उनके साथ खाते-पीते थे सो उन्होंने उन्हें समझा लिया। दिखावे के लिए तगड़ा पुलिस बन्दोबस्त किया गया और रथ यात्रा के लिए हरी झंडी दे दी गई।

रथयात्रा के दिन अहमदाबाद समारोह-मूड में था। सार्वजनिक छुट्टी थी और लोग धमकी-वमकी सब भूलकर भगवान जगन्नाथ के दर्शन और अर्चन में लग गए थे। सारे गिले-शिकवे भुला दिए गए।

''आपने कहा, हमने मान लिया...रथयात्रा निकलने दी... अब हमारा क्या?'' धमकी देने वाले ग्रुप के लीडर ने सत्तापक्ष के अपने दोस्त नेता से गिलास मेज़ पर रखते हुए पूछा।

''तुम्हें टिकट देने का वादा किया है...हम देंगे,'' नेता जी ने अपने गिलास में थोड़ी विस्की और डालते हुए आहिस्ता से कहा, ''इलेक्शन आने दो...!''

''इलेक्शन तो समझो आ ही गया...नाम तो अनाउंस कर दो...!''

''नाम अनाउंस कर दूँ तो हमारे नाम का क्या...? ...और फिर तुम्हारा जीतना भी मुश्किल है...''

''वो तुम हम पर छोड़ दो।''

''क्या मतलब?''

''अरे हिंदुस्तान है मेरे भाई...फसाद करवा दो, दस-पन्द्रह को मरवा दो... कुछ नाराज होंगे कुछ खुश होंगे...खुश किसे करना है हम जानते हैं...जो खुश हुए वो हमें वोट दे देंगे...बस, हम जीत गए!''

''ठीक है, तुम अपनी तैयारी रखो, मैं पार्टी हाई-कमान से बात करता हूँ!''

इन्हीं दिनों नेहरू नगर सर्किल के इस तरफ़ पांजरापोल स्थित सहजानन्द कॉलेज का एनुअल फंक्शन चल रहा था, सारा माहौल तालियों की गड़गड़ाहट से गूँज रहा था और गूँज रही थी सारे स्टूडेंट्स के 'प्रिया...प्रिया...' की चीयर करने की आवाजें, एनुअल डे में सब जानते थे अगर कोई जान डाल सकता था तो वो थी प्रिया! इसी साल ग्यारहवीं में उसने दाख़िला लिया था लेकिन क्या मजाल कि कॉलेज का कोई तो हो जो उसे जानता न हो! उसकी पर्सनालिटी ही ऐसी थी, नाक-नक़्शा, चाल-ढाल, ताब-तेवर, पहनावा-ओढ़ावा सब कुछ। लड़के उस पर जान छिड़कते थे। 'एक बार इंट्रोडक्शन' की भीख माँगते रहते थे। क्या पता शायद मन्दिरों में इस बात के लिए प्रसाद भी पढ़ाते हों! लड़कों की ज़ात... !...नेहल पटेल तो ख़ुद सुबह-सुबह ही आ कर कॉलेज के गेट पर खड़ा हो जाता था, इस इंतज़ार में कि कव प्रिया आए और कव वो उसे आते हुए देखे! और जिस दिन प्रिया स्कर्ट पहनकर आती थी उस दिन तो नेहल की नज़र उसकी पिंडलियों से हटती ही नहीं थी। वो उसे तव तक देखता रहता था जब तक कि वो बिल्डिंग के अन्दर चली न जाए। नेहल ने सोचा था कि शायद इस बात से प्रिया का दिल पसीजेगा और वो उससे वातचीत का सिलसिला शुरू कर देगी। उसने कई बार कोशिश भी की कि प्रिया से वातचीत का सिलसिला बन सके। पहले वो सर हिलाकर मुस्कुराया। फिर एक-दो वार उसने प्रिया के लिए हेल्लो में हाथ भी हिलाया। एक बार तो प्रिया की साइकिल के ठीक सामने आकर उसने ''हेल्लो! गुड मॉर्निंग!'' भी की लेकिन प्रिया ने न उसकी तरफ़ कोई तवज्जो दी न कोई जवाब दिया। नेहल की इज्जत मिट्टी होते देख उसके दोस्त उसके मुँह पर बेसाख्ता हँस दिए। नेहल खिसिया गया, लेकिन तसल्ली सिर्फ नेहल को ये थी कि प्रिया किसी से ज्यादा बात नहीं करती थी। मालूम तो प्रिया को था कि नेहल उसके पीछे दीवाना है लेकिन प्रिया तो पहले से ही कवन के पीछे दीवानी थी! पिछले तीन सालों से आठवें दर्जे से! लेकिन नेहल ने भी हिन्दी फ़िल्में देख रखी थीं और वो समझता था कि लड़की अपना इरादा कभी भी बदल सकती है। उसके पिता एक प्रादेशिक राजनीतिक पार्टी के ज़िला प्रेसिडेंड थे और उस रुतबे और पैसे के बड़प्पन के बूते नेहल का भरोसा इस ओर और पुख्ता हो गया था। ''लड़की पर्स देखती है बेटे! पोजीशन देखती है!'' नेहल अक्सर अपने दोस्तों से कहा करता था और दोस्त तो उसके तमाम थे और हमेशा उसे चारों तरफ़ से घेरे रहते थे। इस तरह सहजानन्द कॉलेज में कवन और प्रिया का चर्चा तो गर्म था ही, इस सिलसिले में नेहल का नाम भी मशहूर था।

''ये कवन साला है कौन...पता तो कर!'' नेहल ने कहा नहीं कि उसके दोस्तों की फ़ौज लग गई मिशन पर। ख़बर मिली 'कोई नहीं बॉस...मामूली छोकरो छे! ...रामदेव नगर माँ रहे छे!'

''ठिकाने लगा दूँ क्या?'' एक ने पूछा।

''अरे नईं यार...मुझे प्रिया से मतलब...छोकरे का क्या करना है...'' नेहल ने इत्मीनान से कहा।

आते भले ही अक्सर अलग-अलग हों लेकिन कॉलेज के बाद ज़्यादातर

कवन और प्रिया अपनी-अपनी साइकिलों पर साथ-साथ वापस जाते थे। प्रिया जोधपुर में रहती थी और कवन ज़रा आगे रामदेव नगर में। दोनों के घर एक-दूसरे से ज़्यादा दूर नहीं थे। कॉलेज से वापसी में पहले प्रिया का घर पड़ता था फिर कवन का। पहले-पहले कभी-कभी और फिर बाद में तक़रीबन रोज़ाना ही इन दोनों की साइकिलों के पीछे नेहल भी धीरे-धीरे अपनी कार चलाते हुए आने लगा। गाड़ी में ज़ोर-ज़ोर से फ़िल्मी गाने बजाते हुए। तीन-चार दोस्त तो ख़ैर उसके साथ हमेशा ही रहते थे, सो वे भी गाड़ी में ही होते थे...ये वो ज़माना था जब अहमदाबाद इतना डेवलप्ड शहर नहीं था और लोग एक-दूसरे को ज़्यादा अच्छी तरह जानते थे, तो नेता जी के सुपुत्र होने के नाते नेहल को लोग सलाम भी करते थे और उससे कुछ कहने की हिम्मत भी नहीं करते थे, हाँ, दबी-दबी ज़बान से नेहल की बदमाश सोहबत और लड़कियों—ख़ास तौर पर प्रिया के पीछे डोलने के चर्चे ज़रूर होते रहते थे।

''नेता जी नो छोकरो छे!...एस आई होएगा न...!'' लेकिन नेहल के पिता शंकर भाई पटेल के सामने क्या मजाल कोई नेहल के बारे में कुछ उल्टा-सीधा कह तो दे! सब जानते थे नेहल के दोस्त उसकी वो दशा करेंगे की सात जन्मों तक याद रखेगा।

पार्टी के ज़िला इलेक्शन में ये तीसरी बार था कि शंकर भाई पटेल आम सहमति से निर्विरोध चुनाव जीते थे।

''हवे तो साहिब नु प्रदेश अध्यक्ष बनवाणु छे (अब तो साहिब को प्रदेश अध्यक्ष बनवाना है)...सारा प्रदेश तो इनके साथ है।'' सभी साथी कहते थे।

''आप तो एक काम करो,'' कोई सलाह देता था, ''आप तो बन जाओ प्रदेश अध्यक्ष और फिर बन जाओ राज्य के मुख्यमन्त्री...और लड़के को बना दो ज़िला अध्यक्ष...बाद में मुख्यमन्त्री पद वो सँभाल लेगा!''

वैसे भी नेहल का कैरियर निश्चित हो चुका था—पॉलिटिक्स! उसके रंग-ढंग, लाग-लक्षण, संगी-साथी सभी कुछ तो वैसा ही था, और अब तो नेहल कॉलेज स्टूडेंट यूनियन का प्रेसिडेंट हो गया था। तो पॉलिटिक्स की शुरुआत तो हो चुकी थी!

प्रेसिडेंट और प्रेसिडेंट के साथी एनुअल डे के लिए जल्दी आकर कैंटीन में बैठे गप्प मार रहे थे।

''अच्छा तू एक बात बता...'' नेहल के मुँह लगे दोस्त हितेशने पूछा, ''पॉलिटिक्स का मतलब क्या है?''

''तू पॉलिटिक्स का मतलव नहीं जानता?....हा हा हा हा...''

''तू बता न यार...''

''पॉलिटिक्स का मतलब है सत्ता हासिल करना... और पॉलिटिशियन का परफ़ज़ है कुर्सी हासिल करना...हर क़ीमत पर!''

''और अगर न मिल पाए तो?''

''न मिल पाए क्या मतलब?... सीधे चलो टेढ़े चलो कुछ भी करो... हासिल करो...''

''तेरे घर पे जो ये सारे दादा लोग, मवाली, नेता, सरकारी अफ़सर चक्कर लगाते हैं वो थोड़े ही सत्ता हासिल करने आते हैं...''

''वो लोग सत्ता तक पहुँचाने में मदद करते हैं...हम उन पर और वो हम पर निर्भर हैं ...गाय को चारा खिलाता है न !...किसलिए? ...इसलिए के वो दूध दे जो हम पिएँ... !...उसका भी भला हमारा भी भला...''

''नेहल भाई...तुम कुछ भी कर लो...कितने भी इम्पोर्टेन्ट हो जाओ...प्रिया तुमसे नई पटने की... !'' कैंटीन में बैठे एक साथी ने कहा।

''क्यों बे?'' नेहल ने अपनी चाय का प्याला मेज़ पर पटकते हुए पूछा।

''क्योंकि उसे मालूम है कि तुम लड़कियों के पीछे भागते हो... और लड़कियों को चाहिए कि लौंडे बस उनके ही होकर रहें!''

''मिल तो जाए...हाय ... ! मैं उसी का होकर रह जाऊँगा... !''

''तो गुरु एक बार यही बात उससे जाकर के बोल दे न... प्यार कर ले नईं तो जोगी बन जाऊँगा!...हा हा हा हा...''

सब हँस पड़े। नेहल ने खिसियाई नज़र से इधर-उधर देखा, फिर उठ खड़ा हुआ। बोला, ''ठीक है बेटे!...आज प्रोग्राम है न...डांस करेगी न...डांस के बाद देख... !'' नेहल सर्र से कैंटीन के बाहर निकल गया। पीछे से एक ने आवाज़ लगाते हुए कहा, ''पटेल की इज़्जत रख लेना भाई... !''

एनुअल फंक्शन में पिछले दो दिनों से खेल-कूद प्रतिस्पर्धाएँ होती रहीं। आज तीसरे दिन दोपहर तक डिबेट और ड्रामा कम्पटीशन हुए। शाम के कार्यक्रम में विजेताओ को इनाम दिए जाने थे और अवाड्र्स के बाद था कल्चरल प्रोग्राम— जिसमें कुछ विद्यार्थी गाना गाने वाले थे, दो-एक स्टैंड-अप कॉमेडी करने वाले थे। एक नुक्कड़ ड्रामा ग्रुप सरखेज से भी बुलाया गया था— ये लोग शहर के नौजवान लड़के-लड़कियों को लेकर खुले मंच पर नुक्कड़ नाटकों के ज़रिये सामाजिक समस्याओं की ओर लोगों का ध्यान

आकर्षित करने वाले नाटकों के क्षेत्र में बड़ा नाम कमा चुके थे। उसके बाद था एक ओडिसी नृत्य जो कि कई लड़कियाँ/लड़के मिलकर करने वाले थे और फिर प्रोग्राम के अन्त में था प्रिया का डांस। अन्त में इसलिए ताकि तब तक कोई उठ के जाए नहीं। और प्रिया के लिए तो पूरा कॉलेज रुकेगा! प्रोग्राम खुली फील्ड के एक तरफ़ स्टेज बनाकर किया जा रहा था। जब प्रिया का नाम अनाउंस हुआ तो विद्यार्थियों में जैसे तूफ़ान आ गया। फिर जब पर्दा हटा और प्रिया स्पॉट लाइट के साथ स्टेज पर दाख़िल हुई तो तालियों की गड़गड़ाहट कुछ यूँ हुई कि साउंड स्पीकर की आवाज़ भी उसके आगे मद्धम पड़ गई। नाच शुरू हुआ पहले धीरे-धीरे और फिर आहिस्ता-आहिस्ता ज़ोर पकड़ता गया। अपने उरूज पे जाकर संगीत और डांस स्टेप्स जब एक हो गए तो आनन्द की अनुभूति में सब दीवाने हो गए। सबने वो तालियाँ पीटीं, सीटियाँ बजाईं और प्रिया के नाम की पुकार की कि बग़ल के घरों की भी शान्ति भंग हो गई। लोग अपनी-अपनी छतों और बालकनियों पर निकल आए। नेहल दीवाना हो गया। पसन्द तो वो प्रिया को शुरू से ही करता था लेकिन आज तो प्रिया का मुरीद हो गया। दीवानगी की हदों को पार करता हुआ वो स्टेज के पीछे दौड़ गया। स्टूडेंट यूनियन के प्रेसिडेंट होने के नाते रोक तो उसे कोई सकता नहीं था। जिस क्लास रूम को मेकअप रूम बनाया था वो उसके दरवाज़े को धाड़ से खोलते हुए घुस गया। प्रिया स्टेज से बस वापस आई-आई थी, उसने मुड़कर दरवाज़े की तरफ़ देखा। नेहल प्रिया की तरफ़ लपककर उसका हाथ पकड़ने ही वाला था कि पीछे से किसी ने पुकारा, ''नेहल!'' ...सायरा मैडम थीं। मैडम सोशल साइंस की टीचर थीं और आज के कल्चरल प्रोग्राम की इंचार्ज। नेहल को मैडम के आने की उम्मीद नहीं थी। वो स्तब्ध रह गया।

''व्हाट आर यु डूइंग इन गर्ल्स रूम?''

''कुछ नई मैडम...कुछ नईं...कुछ नईं...'' और नेहल चुपचाप कमरे से बाहर हो गया। उस कमरे में मौजूद सारी लड़कियाँ बेतरह हँस पड़ीं। उस रात नेहल पर उसके दोस्त भी दिल खोलकर हँसे...

''हमने कहा था प्रिया तेरी किस्मत में नईं है बेटा...'' एक ने चिढ़ाया।

''अच्छा हुआ,'' दूसरे ने क़रीब आकर धीरे से नेहल के कान में बुजुर्गाना अन्दाज में कहा, ''मैडम आ गईं... नईं तो तू ने तो प्रिया का हाथ पकड़ ही लिया था न...!'' नेहल ने हाँ में सर हिलाया। लड़का बहुत संजीदगी से बोला, ''और तब प्रिया ने तुझे ज़ोर से थप्पड़ मार दिया होता...तो ...?'' फिर वो

लड़का और तमाम मौजूद साथी-सभी बड़ी ज़ोर से ठहाका मार कर हँस दिए। नेहल बुरी तरह खिसिया गया। बोला, ''देखता हूँ साली जाएगी कहाँ...अब तो मैं उसको लेकर ही रहूँगा!...साली...!''

''तू एक काम कर'' ...एक ने कहा।

''क्या?''

''तू उसे भगा के ले जा...'' सब फिर हँस पड़े। लड़का बोलता रहा, ''बस, फिर जब वापस आएगा तो लौंडिया किसी काम की नहीं रहेगी और तेरी चाँदी-ही-चाँदी...'' सब ने हाँ में हाँ मिलाई।

''इसका नाम एम. एल. ए. के लिए अनाउंस कर दूँ?...ये तो शहर का गुंडा है...लोग इसके नाम से डरते हैं...ऐसा करने से पार्टी का नाम ख़राब नहीं होगा?'' पार्टी हाई कमान ने नेता जी से पूछा।

''नाम को मारिए गोली...ये सोचिए कि एक तो ये जीत जाएगा दूसरे चार एम. एल. ए. और लाने की गारंटी देता है...वे लोग निर्दलीय आएँगे फिर हम उन्हें अपनी पाटी में शामिल कर लेंगे... पब्लिक अगर उनके चरित्र पर उँगली उठाएगी तो हम इन्क्वायरी बैठा देंगे...किसी पूर्व जज को उसका इंचार्ज बना देंगे... जब तक उसकी रिपोर्ट आएगी पाँच साल पूरे हो जाएँगे लोग सब कुछ भूल जाएँगे।''

''पाँच एम. एल. ए....पक्की बात?''

''पक्की बात!''

इलेक्शन आ गए थे। बस क़रीब दो महीने बचे होंगे के सरख़ेज़-राजकोट हाईवे पर एक 45 यात्रियों से भरी बस को भून डाला गया। मुख्यमन्त्री ने भर्त्सना की, दिल्ली के गृहमन्त्री ने व्यथा व्यक्त की, प्रदेश की क़ानून व्यवस्था पर उँगली उठाई गई, टी. वी. डिबेटें चल पड़ीं, जो बेकार बैठे नेता थे उनको तस्वीरों में आने का मौक़ा मिला। शहर में कर्फ़्यू लगा दिया गया। लोगों में गुस्सा बढ़ गया। स्कूल-कॉलेज बन्द हो गए। राज नेताओं की मीटिंगों का दौर बढ़ गया।

''शंकर भाई ये सब राजकरण है...इन लोगों की मिलीभगत है...''

''वो तो है...हम भी समझते हैं....लेकिन बोल तो नहीं सकते ने...क्या प्रूफ है...!''

''तो अब हमारा क्या प्लान होना चाहिए?''

''वो लोग सत्तार भाई को टिकेट दे रहे हैं न ! ...आप लोग जाकर सत्तार

से मिलो और उनसे कहो की आप उनके टिकट पर लड़ो लेकिन जब जीत जाओ तो हमारी पार्टी में ज्वाइन कर लो...वो तो आपको एम. एल. ए. बना रहे हैं...हम आपको मन्त्री पद देंगे...! देखो क्या कहता है...!''

''तो ये काम तो नेहल भाई अच्छी तरह कर सकते हैं।''

''क्या मतलब?''

''सत्तार का लड़का और नेहल दोस्त हैं...'' कहते-कहते करसन भाई रुक गए। कहना तो चाहते थे कि अक्सर उन्होंने नेहल और सत्तार के लड़के सरफ़राज़ को गाड़ी में एक साथ बैठे पेग चढ़ाते देखा है...लेकिन उन्होंने बात दोस्त हैं तक ही रोक दी।

''नेहल...!...ओ डिकरा नेहल...'' शंकर भाई ने लड़के को आवाज़ लगाई।

नेहल ने बात पहुँचा दी। पाँच दिन बाद जब कर्फ़्यू शाम को दो-दो घंटों के लिए रिलैक्स किया गया तब दोनों दोस्त मिले। नेहल ने जाकर सत्तार भाई के पाँवों छुए, हाथ मिलाया, आशीर्वाद लिया। ये वो ज़माना था जब मारुतीवालों ने अपनी नई गाड़ी एस्टीम निकाली थी और अहमदाबाद का सैटेलाइट का इलाक़ा डेवेलप्ड नहीं हुआ था। शाम गहरा चली थी, अँधेरे में दोनों नौजवान दोस्त एस्टीम में बैठे स्मिरनॉफ की बोतल खाली कर रहे थे और धीरे-धीरे ड्राइव करते हुए जोधपुर सर्किल की तरफ़ चल रहे थे की अचानक नेहल ने दायें देखा और ब्रेक लगा दिए। प्रिया अपने पिता के साथ फल वाले के ठेले पर खड़ी थी।

''क्या हुआ?'' सरफ़राज़ चौंक गया।

''वो देख, उधर...वो लड़की...वो बुड्ढे के साथ...''

''तो?...तेरा दिल अयेला है क्या उसपे...''

''दिल?...साली पकड़ में ही नहीं आती।''

''किडनैप कर दें?.... आजकल तो वैसे भी दंगे के दिन हैं किसी के साथ कुछ भी हो सकता है...हा हा हा हा...''

''रखेंगे कहाँ?''

''गोदाम है, पोल हैं, मकान हैं, फ्लैट्स हैं,...कहीं भी रख देंगे...''

''पकड़े गए तो?''

''कौन पकड़ेगा अपुन को यार?...कहाँ...रहती कहाँ है ये?''

वातावरण धीरे-धीरे सामान्य होने लगा था। शान्ति को देखते हुए कर्फ़्यू दो की जगह चार घंटे रिलैक्स किया जाने लगा-दो घंटे सुबह, दो घंटे शाम! सुबह

शाम जब कर्फ़्यू खुलता तो गाड़ी में दो लड़के आकर प्रिया के घर के सामने पार्क हो जाते। कभी मारुती जिप्सी में, कभी जीप में, कभी-कभी एम्बेसडर में, अलग-अलग गाड़ियाँ थीं और सूरत अन्दर बैठों की दिखाई नहीं देती थी इसलिए किसी को किसी प्रकार का शक होने का सवाल नहीं था... ऐसे तीन दिन गुज़रे कि एक दिन शाम के समय सूरज बस ढला-ढला था प्रिया घर से निकलकर सामने वाले फुटपाथ पे खड़े सब्ज़ी वाले ठेले की तरफ़ चली जिप्सी से लड़के निकले, आनन-फ़ानन में उन्होंने प्रिया के सर पर कपड़ा डाला, उसका मुँह दबाया और उसे उठाकर गाड़ी में डाल दिया। जब तक सब्ज़ी वाला तक समझ पाता कि क्या हुआ गाड़ी फर्र हो गई नम्बर देखने की बात तो दूर। काम इतना एहतियात और शातिरी से किया गया था कि इसकी ख़बर किसी को भी नहीं लगी—नेहल के दोस्तों को भी नहीं।

पन्द्रह मिनट के ड्राइव के बाद प्रिया को एक गोदाम में फेंक दिया गया। जब उसकी आँखों पर से पट्टी खोली गई तो उसने देखा के वो किसी कपड़ों के गोदाम में लाकर पटक दी गई है। वो शॉक से उबर भी नहीं पाई थी कि उसे पीठ से जकड़े हुए उसके सीनों को दबा-दबाकर नेहल अपने-आपको गर्म करने लगा। प्रिया ने नेहल को गालियाँ दीं, थप्पड़ मारे, उसके सामने रो-रोकर भीख माँगी। उस समय एक मिनट के लिए नेहल को लगा भी कि शायद उसने कोई ग़लती कर दी है लेकिन अब प्रिया को वापस पहुँचाना और बड़ी गलती होती।

''तू एक काम कर...पाजामा उतार दे... गीला हो गया है...''

पुलिस में प्रिया के खो जाने की रिपोर्ट लिखवाई गई थी लेकिन पुलिस अव्वल तो किसी गोदाम में बन्द लड़की को ढूँढ़ती कैसे और दूसरे उसकी मजाल कि सत्तार भाई के गोदामों में घुस जाए। फिर ये समय तो कर्फ़्यू का था वो अपनी तैनाती ड्यूटी करे या खोए लोगों को ढूँढ़ने जाए।

कवन को हालाँकि नेहल पर पूरी तरह शक था। लेकिन न वो कुछ सिद्ध कर सकता था न नेहल से दबाव के साथ कुछ पूछ सकता था... वो सिर्फ अपनी दोस्त के लिए आँसू बहा सकता था और प्रार्थना कर सकता था।

शहर में कर्फ़्यू तीन दिन और चला फिर हटा लिया गया। नेहल का प्रिया के साथ पाजामा सिलसिला पाँच दिनों तक चला। चलता तो लम्बा लेकिन छटे दिन अपने पिता शंकर भाई के साथ उसे एक जनसभा के लिए नाडियाड जाना पड़ा। पिता का उत्तराधिकारी था, कभी-कभी मीटिंगों में जाना पड़ता था। दो दिन बाद वो लौट के आया तो उसने देखा प्रिया नदारद।

''क्या हुआ?'' नेहल ने पूछा।

''पता नहीं कहाँ भाग गई साली...'' सरफ़राज़ ने अनभिज्ञता ज़ाहिर करते हुए कहा।

''तुम्हारे यहाँ से भाग गई...?'' नेहल ने तुम्हारे पर ज़ोर देकर कहा।

''अरे...! छोड़ न! ...छुट्टी हुई...तेरी भी और मेरी भी...''

जो सरफ़राज़ ने नेहल को नहीं बताया वो ये कि उसने प्रिया को बम्बई के एक दलाल के हाथों बेच दिया था!

गेम्स

'हानि लाभ जीवन मरन जस अपजस विधि हाथ' यह बात जब तुलसीदास जी ने रामायण में लिखी थी तब विधि का मतलब होता था विधना का लिखा हुआ भाग्य। वो तब की बात थी। अब के भारत में विधि का मतलब होता है 'क़ानून' जो किताबों में होता है, जिसके दम पर देश का, अदालतों का, समाज का तन्त्र चलाया जाता है और जो भी बड़ा/ पैसे वाला/ रसूख वाला– या तो होता है या होना चाहता है– वो जितना इस क़ानून को तोड़ता है उसी बल पर आगे बढ़ता है और उतना ही बड़ा/ पैसे वाला/रसूखवाला बनता है। पैसे वालों के दायरे में सिर्फ पैसा बोलता है। उसी से वो लोग चीज़ें, दिमाग़, साधन, सामान सब कुछ ख़रीद लेते हैं। वो हर खेल पैसे से खेलते हैं और समयानुसार जो भी दुनिया में नए नए खेल ईजाद होते हैं उन्हें भी वो पैसे से ही खेल लेते हैं...पैसा ही उनका खेल भी होता है और खेल का साधन और मोहरा भी। पैसे की ख़ासियत है कि वो पैसेवालों में घमंड और ज़ौम का संचार आते साथ कर देता है। इस लिए लोगों में 'एरोगेंस' और ग़ुस्सा बढ़ जाता है। इसलिए हर खेल खेलते समय उनकी सोच सिर्फ किसी भी क़ीमत पर जीतने पर लगी रहती है। हारना उनकी समझ के बाहर होता है।

उनकी औलादें भी यही सीखती हैं और उन्हें भी दुनिया की सारी ख़रीदी जाने वाली चीज़ों को बटोरने और नए-नए खेल खेलने की आदत पड़ जाती है। इसलिए ये लोग दिमाग़ पर ज़्यादा ज़ोर नहीं डालते और दिमाग़/ लियाक़त विकसित करने के लिए प्रयास भी नहीं करते। फिर आज इंटरनेट के ज़माने में तो ये बात सोलह आने से भी कई और आने सत्य लगती है।

गुड़गाँव सुशांत लोक के सेक्टर 56 में रहने वाले तरुण चोपड़ा भी पैसेवाले थे। पोस्ट ऑफिस के बग़ल वाली 500 गज़ के प्लाट पर बनी दुमंज़िला 'कोठी' के पोर्टिको में उनकी एक समय में कम-से-कम चार-पाँच गाड़ियाँ तो हमेशा खड़ी रहती थीं, लेकिन जब नए मॉडल की बी.एम.डब्ल्यू. वहाँ खड़ी दिख जाए तो समझिए कि चोपड़ा साहेब घर पे हैं। हालाँकि वो ज़्यादातर घर पर होने

की बजाय अपने भोंडसी वाले फ़ार्म हाउस में होते थे। उनका बहुत फैला हुआ बिज़नेस था—जायदाद की ख़रीद-फ़रोख़्त का। सस्ते में ज़मीने ख़रीदीं, प्लाट काटे, इधर-उधर चारदीवारी लगाई और लोगों को आसमानी भाव में बेच दिए। अक्सर ज़मीनों को खेती से 'नॉन-एग्रीकल्चर' करवाने के लिए इनको नेताओं और ज़रा 'सख़्त' लोगों का सहारा लेना पड़ता था और ऐसे लोगों से मेलजोल बनाए रखने के लिए पार्टियों से बढ़िया और क्या बात हो सकती थी! जिस सब के लिए भोंडसी का फार्म हाउस 'फर्स्ट क्लास' था! शराबें, डी जे, लड़कियाँ, बार बे क्यू, लेन-देन...ये सब कोई घर में करता है क्या!

जब पार्टी में कॉल गर्ल्स नहीं बुलाई जा रही होतीं तब चोपड़ा साहेब कभी-कभी अपनी बीवी को भी साथ ले जाते थे। ख़ास तौर से जब जबकि हाउसिंग मिनिस्टर गिरिजा किशोर जी इनवाइटेड होते। चोपड़ा को मालूम था कि गिरिजा किशोर की नज़र उनकी बीबी पर है और इसलिए यदि उनसे अपनी कोई बात मनवानी होती तो वे अपनी बीवी को आगे कर देते थे। यह बात चोपड़ा की बीवी भी जानती थी लेकिन इतनी बड़ी कोठी, बी. एम. डब्ल्यू., बेतहाशा लक्ष्मी की कृपा के सामने एक बूढ़े, खूँसट, तोंदू और तम्बाकू का भभका छोड़ते काले हुए मुँहवाले के बग़ल में ज़रा देर को चिपक लेना कौन बड़ी 'प्राइस' है!

चोपड़ा साहेब की दो औलादें थीं। एक लड़का—नीलाभ— जो फिलहाल दसवीं में पढ़ रहा था और जिसे पढ़ने से ज़्यादा कम्प्यूटर गेम्स खेलने, अपने कुत्ते ब्रूटो के साथ इधर-उधर सैर करने (जो वो हमेशा मोटर की पिछली सीट पर ब्रूटो के साथ बैठकर करता था, ड्राइवर को बेतरह तेज़ स्पीड से गाड़ी चलाने के लिए लताड़ते हुए) में परम आनन्द आता था। घर के खाने से ज़्यादा मैक डोनाल्ड के बर्गर और ले की चिप्स की पसन्द ने उसके गालों पर सुर्ख़ी ला रखी थी और वज़न में ज़रूरत से ज़्यादा इज़ाफ़ा कर रखा था। चॉकलेट और मिंट से उसकी जेबें हमेशा भरी रहती थीं, क्योंकि ख़ुद तो ख़ुद नीलाभ ने ब्रूटो को भी चॉकलेट की आदत लगा रखी थी। एक ख़ुद खाता था तो दूसरी ब्रूटो को देता था। न दे तो ब्रूटो चॉकलेट देखकर बाक़ायदा हाथ मार-मारकर चॉकलेट माँग लेता था। गाड़ी हो, घर हो, स्कूल की क्लास हो उसकी नज़र हमेशा अपने आठ इंच के आई पैड या पाँच इंच वाले आई फ़ोन पर लगी कोई-न-कोई गेम या पिक्चर या सीरियल या सनी लीओन जैसी किसी स्टार के वीडियो देखने में लगी रहती थी।

चोपड़ा साहेब की दूसरी औलाद थी उनकी लड़की—सोना—जो थी तो

नीलाभ से दो साल छोटी लेकिन हर बात में बड़ी बैठती थी— क़द में, वज़न में, आवाज़ की बुलन्दी में, अपना भला देखने वाली बुद्धि में और घर में बनी हुई बार से चोरी-चोरी शराबें उँड़ेलकर पीने में। आठवें दर्जे और 13 साल की उम्र तक पहुँचते-पहुँचते वो हिन्दुस्तानी और इंटरनेशनल बीयरों, व्हिस्कियों, वाइनों और इनके तमाम तरह की वैरिएशन्स के बारे में ख़ासी जानकार हो चुकी थी। फ़ुर्सत न बाप को थी न माँ को और न ही बेटा-बेटी को कि कभी किसी का हाल चाल पूछें। पैसे से ताल्लुक़ था—उनको देकर पीछा छुड़ाने में, इनको लेकर गुलछर्रे उड़ाने में!

लेकिन सोना का फ़्रस्ट्रेशन ये था कि उसकी उम्र का कोई भी— न स्कूल में न इधर-उधर— उसके 'लेवल' के तवादल-ए-ख़्याल वाला नहीं था। और इसलिए उसका ले-देकर एक ही दोस्त था— मुहम्मद ज़ुबैर। ज़ुबैर चोपड़ा साहेब के चार्टर्ड अकाउंटेंट का असिस्टेंट था— इंटरनी! एक-आध बार जब उसे कुछ काग़ज़ात लेने घर आना पड़ा और उसका साबिक़ा सोना से पड़ा तो ज़रा सी बातचीत के दौरान ही सोना को ज़ुबैर अपने 'लेवल' का लगा और सोना की सूरत/सीरत/अमीरी देखकर ज़ुबैर की भी लार टपक गई। दो-चार मुलाक़ातों में ये दोनों दोस्त बन गए और अच्छे दोस्त बन गए।

ज़ुबैर मूल रूप से रहने वाला ग़ाज़ियाबाद का था, लेकिन नौकरी और अपने सी. ए. के चक्कर में नोयडा के मयूर विहार में एक कमरा किराए पर लेकर रह रहा था। दफ़्तर उसका सरिता विहार दिल्ली में था। सरिता विहार और नोयडा में कोई ख़ास दूरी नहीं थी इसलिए आराम था लेकिन जब से ज़ुबैर की लार टपकी है और उसका गुड़गाँव में जी लगा है तब से आने-जाने में ही उसकी नींदें हराम होने लगी हैं। घर से दफ़्तर, दफ़्तर से गुड़गाँव, गुड़गाँव से नोयडा! और राजीव चौक पर मेट्रो लाइन बदलना तो— बाप रे!

"तो साले गाड़ी ले ले!" सोना ने इस बार फिर लताड़ा।

"गाड़ी मेरा ससुर देगा?" ज़ुबैर ने सर को झटका देकर कहा।

"देगा साला...जब ससुर बनेगा तब!"

"तब तक?"

"तब तक मेरी गाड़ी ले जा।"

"और तू क्या बोलेगी बाप को?"

"बाप साला है कहाँ कुछ बोलने-सुनने के लिए!...होता भी तो क्या कर लेता!"

ज़ुबैर ने हलके से सोना के गालों पर प्यार से हाथ फेरा।

" ऐ...। मत भूल मैं जुविनाइल हूँ साले...। ये सब करेगा तो जेल हो जाएगी।"

"और तू भी मत भूल मैं मुसलमान हूँ साली मेरे लिए पुबर्टी वाली जायज़ है।"

"अच्छा!..." और फिर सोना ने ज़ुबैर को जकड़कर उसके मुँह में अपनी ज़बान से वो गर्मी उड़ेली की ज़ुबैर का सर सोना की जाँघों के आगे झुकता चला गया।

घर के नौकरों को अन्दाज़ा था, लेकिन उन्हें शराब और पैसे की रिश्वत चुप रखती थी और नीलाभ को सोना क्या करती है या नहीं करती है इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता था।

नीलाभ के दो दोस्त थे– एक ब्रूटो जो उससे कुछ नहीं कह सकता था और उसकी हर बात मानता था। दूसरा था उसका ड्राइवर सेवाराम। सेवाराम उम्र में ज़रा बड़ा था– आठ-दस साल। आठवीं के बाद पढ़ना छोड़ चुका था और अब तक पान-तम्बाकू बेचने, सड़क के नुक्कड़ों पर फूलों के गुलदस्ते बनाने-बेचने इत्यादि जैसे कई धन्धों में हाथ बँटा चुका था। ड्राइवरी सीखने के बाद ये उसकी दूसरी नौकरी थी। पहली थी टैक्सी चलाने वाली जो उसे क़तई पसन्द नहीं थी। यह नौकरी उसे पूरी तरह रास आ गई। 'भैय्या' के मूड के हिसाब से आना-जाना! स्कूल पढ़ने गए तो गए न गए न गए! भैय्या कभी-कभी गोरो-गोरी लड़कियों के वीडियो दिखा देते हैं, कभी-कभी सिगरेट भी दे देते हैं और कभी-कभी कनॉट प्लेस में रीगल वाली गली से ड्रग्स भी मँगवा लेते हैं– तो थोड़ी सेवाराम भी ले लेता है! पैसा भी मिल जाता है– तनख़्वाह भी और एडवांस भी– जब चाहो तब! सेवाराम हमेशा भैय्या और बेबी की ड्यूटी पर रहता है। 'साहेब' के गाड़ी/ड्राइवर अलग है।

"तू ने कभी गन चलाई है?" नीलाभ ने पिस्तौल दिखाते हुए पूछा।

"नहीं भैय्या जी...। हमारे पास गन कहाँ!" सेवाराम हाथ जोड़कर फिक्क से हँसा।

"तो ले...। चला "

"अरे नईं नईं...।"

"अबे चला...मैं हूँ न..."

"नई नई..."

"अच्छा मेरे ऊपर चला...चला न..."

"नईं नईं...देखो देखो...वो मेमसाब आ गईं।

नीलाभ ने खिड़की से बाहर नज़र करके अपनी माँ को गाड़ी से निकलकर घर के अन्दर आते देखा और लापरवाही से फिर नौकर को बन्दूक दिखाकर आँखों से "क्यों?...चलाता है?" का इशारा किया। इतने में माँ ने दरवाज़े से गुज़रते हुए नीलाभ को सेवाराम पर बन्दूक ताने हुए देखा।

"ये क्या हो रहा है बेटा?" माँ ने क़दम रोककर कमरे में अन्दर की तरफ़ सर मोड़कर पूछा।

"मैं इसको मार डालूँगा..."

"भैय्या जी खेल खेल रहे हैं...हं हं हं हं..." नौकर ने चापलूसी की।

"ऐसा नहीं करते बेटा..."

"इसको मैं इससे थोड़ी मरूँगा...ऐसे तो ये आसानी से मर जाएगा...इसे तो मैं पत्थर से इसका सर फोड़कर मरूँगा...साले का ख़ून बहेगा और भेजा बाहर आकर सड़ेगा..."

माँ ने फ़ौरन दौड़कर दोनों हाथों से नीलाभ के कन्धे थामे, "व्हाट नॉन सेंस आर यू टॉकिंग... !...यही पढ़ाते हैं स्कूल में?"

"गेम्स में तो मर्डर इससे भी खतरनाक होते हैं...तड़पा-तड़पाकर मारते हैं...। मैं तो इसे डेसेंटली मरूँगा...ये मेरा दोस्त है।"

माँ ने लम्बी साँस भरी। सेवाराम ख़ामोश हो गया।

"सेवाराम!..." माँ ने कंसर्नड होकर कहा, "इस पर नज़र रखो ...। ये कम्प्यूटर पर क्या देखता-सुनता है...। तुम करते क्या हो?...तुमसे इतना भी नहीं होता?...अगर इसके हाथ में असली बन्दूक होती और चल जाती तो ...?"

सेवाराम ने सर नीचे कर लिया।

"असली तो डैडी की ड्रॉवर से मैंने निकाली नईं, नईं तो साला ये मर गया होता।" नीलाभ ने जाते-जाते मुड़कर कहा।

माँ आखिर माँ थी। इकलौते लड़के को इस रास्ते जाते देख व्यथित हो गई। रात को अपने पति– चोपड़ा साहेब– के आने तक जागती रही। चोपड़ा जब आया तब रात के दो बजे थे और वह नशे में धुत था।

"सुनो, तुम अपनी पिस्तौल ताले में रखा करो ...ऐसे ड्रावर में नहीं।"

"क्यों?..." चोपड़ा हँसा, "चोरी हो गई क्या?"

"देखो नीलाभ बन्दूकों से खेलने लगा है...।"

"आजकल सभी बच्चे बन्दूकों से खेल रहे हैं..."

"वो आज सेवाराम को मार डालने की धमकी दे रहा था।"

"हं हं हं...मार डालो साले को...वैसे भी वह गाड़ी ख़राब चलाता है...तीन बार चालान करवा चुका है...। हं हं हं हं।"

"नीलाभ बिगड़ता जा रहा है..."

"अरे छोड़ बे...। बेकार की बातें...सुन!...मन्त्री जी ने तुम्हें न्यौता दिया है...उनके साथ और सिर्फ उनके साथ डिनर का...। कल...। चली जाना ..."

"मैं नहीं जाती उस बुड्ढे के पास अकेले।"

"क्यों?"

"तुम जानते हो क्यों।"

"तो क्या हुआ?...एक बार बुड्ढे के पास ज़रा बैठ लेगी तो क्या हो जाएगा...। कौन-सा पहाड़ टूट पड़ेगा! तेरा तो मेनोपॉज़ भी हो चुका है!"

"मैं नहीं जाऊँगी..." मिसेज़ चोपड़ा बड़ी ज़ोर से चिल्लाईं। इतनी ज़ोर से कि रात का सन्नाटा काटती हुई आवाज़ घर के आस-पास तक गूँज गई। सोना जो अब तक फेसबुक पर चैट कर रही थी उठकर दबे पाओ माँ-बाप के कमरे के दरवाज़े तक चली आई। अन्दर से आवाज़ें उसे साफ़ सुनाई देने लगीं।

"तीन करोड़ की डील है...हंड्रेड परसेंट का प्रॉफिट है। मन्त्री एक पैसा नहीं माँग रहा है। उसे सिर्फ तुम्हारे साथ डिनर करना है...बस...तीन करोड़ के लिए एक डिनर में क्या खराबी है..." बाप नशे में चिल्ला रहा था।

"तुम जानते हो ये सिर्फ डिनर नहीं है...।"

"वो तेरी लेना चाहता है यार..." चोपड़ा चिल्लाया, "है न!... तो क्या हुआ...। तू अब कोई सोलह बरस की तो है नहीं...। बुढ़िया है और साली ढीली-ढाली बुढ़िया है...ज़रा देर के लिए उसे घुसेड़ लेगी तो क्या हो जाएगा... तीन करोड़ का मामला है...।" चोपड़ा ने गन्दी-सी हिचकी ली, "मिनिस्ट्री री-शफ्फल होने वाली है। हो सकता है ये मन्त्री न रहे। जाते-जाते साला अपनी फाइल तो क्लीयर कर जाए..."

बाप की आवाज़ घटने लगी। अन्त के शब्द बोलते-बोलते शायद उसे नींद आ गई और वो धड़ाम से गिर पड़ा। शायद सोफे या विस्तर पर। सोना चुपचाप अपने कमरे में लौट आई।

चोपड़ा को उनकी पत्नी ने नशे और नींद में गिरते हुए देखा और सिर्फ देखा। वे न उसे बचाने गईं न उठाने। फिर वे हाथ झटककर बेडरूम के बाहर

खुले वरांडे में आ गईं। दो मिनट वहाँ खड़ी रहीं। फाल्गुन का महीना था। रात के समय हवा में हल्की-हल्की ख़ुशनुमा ठंडक थी। वे ड्राइंग रूम में जाकर एक गिलास में अपने लिए 'शैरी' और एक सिगरेट सुलगाकर ले आईं। एक घूँट लेकर उन्होंने सिगरेट का एक लम्बा कश खींचा, पास पड़ी कुर्सी पर टाँग-पर-टाँग धरकर वे बैठ गईं और आकाश की ओर बेमतलब-सा निहारने लगीं। कृष्ण पक्ष की पंचमी थी। अँधेरा था। घर की बत्तियाँ बन्द थीं और स्ट्रीट लाइट पेड़ों से छनी-छनी बहुत कम अन्दर आ रही थी। ज़रा देर में अपना गिलास खाली करके उन्होंने अपनी आधी बची सिगरेट वहीं पैरों के नीचे मसल दी और अन्दर आ गईं। आते-आते उन्होंने देखा नीलाभ अपने कमरे में कम्प्यूटर पर कोई गेम खेल रहा था। बेडरूम में चोपड़ा सोफे पर गिरा पड़ा ही सो चुका था। वे विस्तर में आकर लेट गईं और देर तक खिड़की के शीशे से बाहर ताकती रहीं। उनके ख़्याल में कितनी ही बार गुज़रा की वे फ़ौरन ड्रावर से पिस्तौल निकालकर चोपड़ा पर गोलियाँ बरसा दें। ख़त्म कर दें सारा सिलसिला और आज़ादी पा जाएँ इस जंजाल से। वे सोचने लगीं कि उन जैसी सीधे-सादे साभ्रान्त परिवार में जन्मी, पली, बढ़ी लड़की कब और कैसे इस प्रपंच, वैभव और पैसे के लालच में कहाँ-से-कहाँ आ गई। फिर उनकी इसी सीधी-सादी और शरीफ़ाना सोच ने उन्हें तमंचा उठाने से रोक दिया। अपनी इस स्व-जनित मजबूरी पर उनकी आँखें बह निकलीं। वे सिसकने लगीं और उन्हें ख़ुद से, अपने शरीर से, अपने आकर्षक होने से ग्लानि होने लगी। आख़िर इधर-उधर किसी ग़ैर के गले लग जाना, प्यार से बातें करना और बात है और बाक़ायदा किसी के साथ सो जाना बिल्कुल दूसरी! उनके ख़्यालों की शृंखला टूटी तब जब चोपड़ा के खर्राटे ज़ोर पकड़ने लगे। वे बेडरूम से निकल कर ड्राइंग रूम में आकर सोफे पर लेट गईं। रोते-रोते उन्हें न जाने कब नींद आ गई।

दूसरे दिन शाम को उन्होंने शीशे के सामने अपने काले और सफ़ेद गाउन्स को अपने ऊपर लगाकर देखा। काला उन्हें पसन्द आया। काले कामों के लिए काला- उनके मन में ख़्याल गुज़रा और एक तंज़िया मुस्कराहट उनके चेहरे पर लहरा गई। "परफ्यूम भी डाल लो मिसेस चोपड़ा", उन्होंने अपने-आपसे कहा, "गन्दगी में कुछ तो खुशबू रहे! नौकर को बुलाकर उन्होंने ड्राइवर को गाड़ी में ए. सी. स्टार्ट कर देने को कहा। पाँच मिनट बाद जब वे अपना पसन्दीदा बैग लिये कमरे से निकलीं तो अचानक उनके ऊपर कहीं से एक काली छिपकली गिरी और भाग गई। उनके मन में उभरा 'कहीं ये अपशकुन

तो नहीं' फिर उन्होंने इस ख़्याल को दक़ियानूस कह कर नकार दिया और जाकर गाड़ी में बैठ गईं।

आठ बजे उन्हें हिल्टन के कमरा नंबर 1110 में पहुँचना था। मन्त्री जी पहुँच चुके थे और शायद अपनी 'टीचर्स' व्हिस्की के दो-चार लगा चुके थे। मिसेस चोपड़ा की उन्होंने बड़ी फुर्ती और मोहब्बत से आवभगत की। कई तरह का खाना आर्डर किया गया। फिर मुद्दे पर आते हुए नेता जी ने कहा, "यु आर सो ब्यूटीफुल, मैं तुम्हारे साथ पूरी जस्टिस कर सकूँ इसलिए ये देखो," उन्होंने वियाग्रा की गोलियाँ दिखाकर कहा, "ये लेता आया हूँ...हं हं हं हं ...है न!"

जब मामला शुरू हुआ तो नेता जी ने चार-पाँच गोलियाँ नीट व्हिस्की के पैग के साथ गटक लीं और फिर लेट गए बिस्तर में। "आओ ...आओ...।" कहकर जैसे ही नेता जी मिसेज़ चोपड़ा के ऊपर होने को हुए तो निढाल गिर गए। मिसेज़ चोपड़ा घबड़ा गईं, फिर जब देखा की नेता जी की धड़कनें बन्द हो गई हैं तो एकदम चीख़ पड़ीं। उन्होंने अपने पति को फ़ोन किया—"ये मर गया!"

एक पल ख़ामोशी के बाद पति का जवाब आया, "वैरी गुड...सुनो...इसका एक फोटो ले लो अपने ऊपर नंगा लेता हुआ...। बाक़ी मैं सब देख लूँगा।"

"मैं यहाँ नहीं रुक सकती...चली जाऊँ तो पुलिस केस..."

" अरे कुछ नहीं यार..." चोपड़ा ने बात काटी, "चली आओ...लेकिन फोटो ले कर आना अपने साथ उसकी— नंगी!"

फिर चोपड़ा ने चीफ मनिस्टर को फ़ोन लगाया और इसकी ख़बर दी। "तो सर," चोपड़ा ने कहा, "मेरी वाइफ को अब आपको कम्पेंसेटे तो करना पड़ेगा...। नहीं तो क्रिमिनल केस भी बनता है और आपकी सरकार भी गिर सकती है।"

"ब्लैकमेल!"

"नहीं सर, सौदा है।

"क्या चाहते हो?"

"मेयर की जगह खाली हो रही है...।"

"वो तो मैं प्रॉमिस कर चुका हूँ।"

"सोच लीजिए" चोपड़ा ने कहा।

"और क्या हो सकता है?"

"और ..." चोपड़ा ने सोचकर कहा, "और सर वो जो दारूहेड़ा में जयपुर हाईवे के बग़ल में 50 एकड़ का प्लाट खाली पड़ा है वो दिलवा दीजिए।"

"पचास एकड़!...मेरे बाप का है क्या...?...सरकार भी पैसे दे रही है..."

"तो लीज़ पे हमें डेवेलप करने के लिए दिलवा दीजिए...एक रुपया एकड़..."

"देखता हूँ..."

मामले को कैसे सुलटाया जाए इस बावत मुख्यमन्त्री ने फ़ौरन अपने ख़ास एडवाइज़र से मशविरा किया।

दूसरे दिन सुबह पाँच बजे नेता जी की लाश को एक सरकारी लाल बत्ती वाली अम्बेसडर गाड़ी में रखकर एयरपोर्ट की तरफ़ भेजा गया और दूसरी तरफ़ से भेजी गई एक तेज़ रफ़्तार खटारा जीप। दोनों का एक्सीडेंट करवा दिया गया। ख़बर बनायी गई कि नेता जी एयरपोर्ट जाते समय एक्सीडेंट में समाप्त हो गए। अख़बारों में छप गया। पार्टी की छवि और नेता जी की लाज रह गई। मृतक को तिरंगे में लपेटकर अग्नि के हवाले कर दिया गया। पाँच दिन बाद चोपड़ा को तमाम सौदेबाज़ी के बाद 50 एकड़ वाली ज़मीन में से 10 एकड़ मिसेज़ चोपड़ा के नाम पर लीज़ पर दिलवाई गई। इस शर्त पर कि वे इस ज़मीन पर प्लाट काटकर ग़रीब और ज़रूरतमन्द महिलाओं के लिए स्कूल। छोटे-मोटे स्व-रोज़गार के कारखाने और जिनके पास रहने की जगह नहीं है उनके लिए छोटे रिहायशी मकान बनाएँगी। इस सबके लिए वे 30% प्लाट बाजार भाव पर बेचकर अपनी लागत को वसूल सकती हैं।

"तुम बड़े बाप के बेटे न पढ़ते हो न दूसरों को पढ़ने देते हो...। सिवाय आई पैड पर गेम्स देखने के तुम्हारे पास कोई और काम है?" क्लास टीचर ने क्षुब्ध हो कर हाफ इयरली रिजल्ट की कॉपी नीलाभ को वापस करते हुए कहा।

"सो!...। व्हाटस योर प्रॉब्लम...?" नीलाभ ने टीचर पर आँखें तरेरते हुए क्लास में चारों तरफ़ देखकर कहा।

"प्रॉब्लम!...प्रॉब्लम मुझे नहीं तुम्हें होना चाहिए...लाइफ में करोगे क्या..." टीचर को लगभग ग़ुस्सा आ गया।

"लिसेन!... यु जस्ट डु युर जॉब... ओ के ...लीव मी अलोन...नहीं तो तेरी नौकरी गई!...समझे न!" नीलाभ ने तर्जनी दिखाते हुए चेतावनी दी।

"गेट आऊट...गेट आउट ऑफ़ माय क्लास...!"

नीलाभ बैठा रहा। दो मिनट बाद टीचर ख़ुद ही क्लास से बाहर चला गया। नीलाभ के एक दोस्त— जो ख़ुद भी किसी बड़े बाप की औलाद था— ने पूछा, "व्हाई यू टेक हिम सीरियसली?"

"आई वुड किल द बास्टर्ड!" फिर जैसे नीलाभ को अपना बड़प्पन याद आ गया। उसने पूछा, "यू नो हाउ टू किल?"

"या आई नो...हाउ टू किल ...। आई हैवे सीन इट इन वन ऑफ़ दी गेम्स।"

"या...किलिंग इस नथिंग बट ए गेम...आई हैव सीन इट इन मेनी गेम्स।"

हाफ इयरली में फेल होने की ख़बर जब माँ-बाप को लगी तो उनका पुत्र प्रेम और पैरेंटल ज़िम्मेदारी दोनों फॉर्म में आ गए। मिसेज़ चोपड़ा के कहने पर चोपड़ा ने नीलाभ को ठीक से पढ़ाई करने को कहा। हाई स्कूल बोर्ड है बेटा... उसमें पास करवाना बड़ा मुश्किल है...ठीक से पढ़ा कर...

"या...मैं कर रहा हूँ।" नीलाभ बोला।

"तो ये रिजल्ट कैसे?" चोपड़ा ने मार्क्स शीट दिखाकर पूछा।

"माई टीचर इज़ ए बास्टर्ड।"

"लिसेन ...ग्रेजुएट हो जाओ ...किसी भी तरह...बस..."

"गेट लॉस्ट...!" नीलाभ को गुस्सा आ गया और वो उठकर जाने लगा।

"व्हाट?...व्हाट डिड यू से...। यू सन ऑफ़ ए बिच...कम हियर...।" चोपड़ा नीलाभ को पकड़ने गया। नीलाभ ने साइड टेबल पर रखी एक चीनी मिट्टी की सोविनियर प्लेट उठाई और टेबल पर दे मारी। प्लेट उसके हाथ में आधी होकर रह गई... चोपड़ा ने भागकर नीलाभ को बायीं बाँह से पकड़ा। नीलाभ ने टूटी तश्तरी से बाप के गले पर रेत दिया। चोपड़ा का बैलेंस बिगड़ गया। वो गिर पड़ा और उसने अपनी गर्दन से निकलते ख़ून को देखकर नीलाभ को एक भद्दी-सी गाली दी। नीलाभ ने झटके से बग़ल का ड्रावर खोला और उसमें से पिस्तौल निकालकर बाप के सामने कर दी। चोपड़ा घबड़ा गया। अपनी पत्नी का नाम लेकर चिल्लाया। जब तक मिसेज़ चोपड़ा आतीं नीलाभ ने दो गोलियाँ बाप के शरीर में गाड़ दीं। ख़ून तो बह ही रहा था, जान भी निकल गई। चिल्लाहट सुनकर ब्रूटो और सेवाराम भी कमरे में आ गए। ब्रूटो इधर-उधर सूँघ-साँघकर वापस चला गया। सेवाराम आँखें फाड़े देखता रह गया। चोपड़ा को अस्पताल ले जाया गया जहाँ उसे मृतक घोषित कर दिया गया। लेकिन गोली लगी थी इसलिए 'केस' पुलिस को सौंप दिया गया। गोली किसने चलाई यह तो सबको मालूम था। लेकिन चोपड़ा ख़ानदान का इकलौता लड़का जेल जाए ये कोई नहीं चाहता था। पुलिस के सुझाव पर सेवाराम को नाथा गया। उसके परिवार की सारी ज़िम्मेदारी का वादा और पाँच लाख रुपए

नक़द दिए गए। सेवाराम ने गुनाह क़ुबूल लिया। एफ़. आई. आर. दर्ज हो गई।

चोपड़ा के चौथे के दो दिन बाद मुख्यमन्त्री की पार्टी के यहाँ से मिसेज़ चोपड़ा के लिए बुलावा आया।

"पार्टी के लिए कुछ डोनेशन..."

"अभी तो दिया था..."

"वो तो पहले...पाँच लाख...अब तो मर्डर हो चुका है...। बचना है तो देना पड़ेगा..."

"तो...?"

"तो...। पाँच करोड़!"

"इतना?... मैं कहाँ से लाऊँ इतना पैसा...?"

"लड़के की क़ीमत तो कहीं ज़्यादा है मैडम...उसके सामने पाँच करोड़ की क्या औक़ात ...!

"ये ब्लैकमेल है..."

"पुलिस को सँभाल रही हैं...तो हमें भी तो सँभालिये...पुलिस आख़िर हमारे ही अंडर में है।"

"इज़ दिस ए गेम यू आर प्लेइंग...!"

"एवरीवन इज़ प्लेइंग गेम्स ऑल दी टाइम...। कोई इस तरह कोई उस तरह...कोई धन्धे में कोई कम्प्यूटर पर, कोई आपसी व्यवहार में...एवरीवन इज़ प्लेइंग गेम्स...! ...कोई जल्दी नहीं...हफ्ते-भर बाद भिजवा दीजिए..."

मिसेज़ चोपड़ा आँखें फाड़े पहले तो देखती रह गईं। फिर उठीं और कमरे से बाहर जाते-जाते अपना फ़ोन दिखाकर पलटकर बोलीं, "मैंने भी आपकी बातें रिकॉर्ड कर ली हैं। अब या तो आप एक करोड़ पर मान जाइए...या फिर कहिए तो ये मैं प्रेस को दे दूँ ..."

पार्टी दफ़्तर में बैठा मन्त्री फटी आँखों से उन्हें कमरे से बाहर जाते देखता रह गया।

हीरोइन सुनन्दा

बात उन्नीस सौ पचहत्तर के आस-पास की है। तब तारा फाइनेन्स ब्रोकर था। 'तारा'—बस इतना ही नाम था। फाइनेन्स ब्रोकर माने वो दलाल, जो फाइनेन्सरों से ब्याज पर प्रोड्यूसरों को पैसा उधार दिलवाता था। तारा को मूल पर दो प्रतिशत कमीशन मिलता था, फाइनेन्सर को भरपूर ब्याज और प्रोड्यूसर को फ़िल्म बनाने के लिए मूड़ी। तारा छोटा-मोटा डिस्ट्रीब्यूटर भी था। मुम्बई के ऑपेरा हाउस के पास वाली लैमिंग्टन रोड पर नाज़ बिल्डिंग की तीसरे मंजिल पर किराए पर लिया हुआ एक छोटा-सा कमरा था जो उसका ऑफिस था। लेकिन वो दफ़्तर में कम और प्रोड्यूसरों-फाइनेन्सरों के यहाँ ज़्यादा होता था। इंडस्ट्री में तारा को सब लोग जानते थे। जो काम कोई न कर सके वो तारा कर देता था—फाइनेन्स से लेकर डिस्ट्रीब्यूटर को पिक्चर बिकवाने, हीरो-हीरोइन साईन करवाने या प्रोड्यूसर्स और फाइनेन्सर्स को नई-नई हीरोइन बनने की ख्वाहिशमन्द लड़कियों से मिलवाने तक तारा सर्व-सक्षम था। इसलिए तारा को सारी इंडस्ट्री जानती थी और तारा भी सारी इंडस्ट्री को बड़ी अच्छी तरह जानता था। उसे मालूम था किससे क्या काम लेना है और कैसे।

हाल ही में हिन्दी फ़िल्मों में एक नई हीरोइन आई थी—सुनन्दा। उसको भी फ़िल्मों में तारा ही लाया था। हीरोइन उसी ने बनाया था।

तारा सुनन्दा से शिमला में मिला था। वह किसी रजवाड़े ख़ानदान से ताल्लुक़ रखती थी। बेइन्तहा ख़ूबसूरत और बेहद शाइस्ता, तहज़ीबमन्द, ख़ानदान, शरीफ इतना कि जिससे हाथ मिला लिया उसका यकीन भी कर लिया, उसे दोस्त समझ लिया। सुनन्दा के पिता की उसके बचपन में ही मौत हो चुकी थी। शादी उसकी करवाई उसके चाचा ने, जो कभी लाहौर के पुराने बाशिन्दे हुआ करते थे। सुनन्दा की शादी भी शिमला के एक रईस के साथ हुई थी। हजारों एकड़ जमीन, खेती, तमाम नौकर-चाकर, वैभव। लेकिन इस दुनिया का दस्तूर है कि या तो सब कुछ मिलता नहीं या इत्तेफ़ाक़ से अगर मिल भी जाए तो ज़्यादा देर टिकता नहीं। सुनन्दा के पति की शादी के दो साल बाद

अचानक मौत हो गई। हुआ ऐसा कुछ भी नहीं था, बस वो घोड़े से गिर पड़े थे और सिर में ज़रा-सी चोट लग गई थी। कुछ दिन दर्द रहा था। बस, फिर दस दिनों के भीतर ही मौत हो गई। इस मौत के बाद सुनन्दा बेहद अकेली थी। शिमला की ख़ूबसूरत वादियाँ उसे काटने दौड़ती थीं और रह-रहकर उसे लगता था कि वह यहाँ से भाग जाए। पिता मर चुके थे, पति मर गया था, माँ से कोई ख़ास रिश्ता नहीं था और चाचा जो कभी लाहौर के थे, अब अमरीका के हो रहे थे। सुनन्दा सिर्फ फ़िल्में देख-देखकर दिन काटा करती थी। कभी अपनी नौकरानी के साथ, कभी बग़ल वाली दो-चार महिलाओं और लड़कियों के साथ—बस।

ज़िन्दगी यों ही गुज़र रही थी कि एक दिन प्रदेश टूरिज़्म की एक गाड़ी आकर दरवाजे के सामने रुकी और उसमें से दो आदमी निकले। वे इस हवेली की मालकिन से मिलना चाहते थे। सुनन्दा किसी से मिलती नहीं थी लेकिन सरकारी गाड़ी आई थी उसने सोचा, न जाने क्या बात है। वह बाहर आई।

'ये साहब बम्बई से आए हैं,' सरकारी आदमी ने कहा, 'शिमला में शूटिंग करना चाहते हैं और लोकेशन ढूँढ़ रहे हैं। अगर आपको ऐतराज़ न हो तो आपकी कोठी भी देखना चाहते हैं।'

'क्यों?'

'अगर आप परमीशन दें तो ये आपके यहाँ शूटिंग करें।'

सुनन्दा ने उस अफसर से नज़र हटाकर फ़िल्मवाले की तरफ़ देखा।

'नमस्ते जी! मेड़ा नाम ताड़ा है... मैं बॉम्बे से आया हूँ फ़िल्म की शूटिंग के सिलसिले में।'

सुनन्दा की इस शख़्स के बोलने के तरीक़े और लहजे पर हँसी आई लेकिन यह दबा गई। उसने कहा, 'हम ये हवेली किसी को देते नहीं हैं।'

'बड़ी हम हवेली लेने थोरी आया नी... तीन दिन का शूटिंग है। बॉम्बे से हीड़ो आएगा, हीड़ोइन आएगा... फिड़ आपको जो तय होएगा वो भाड़ा भी मिलेगा।'

'नहीं, नहीं... आप कहीं और जाएँ।'

फिर तारा ने बड़ी गहरी और बड़ी बेशर्म नज़र से सुनन्दा को लगातार देखा और उसकी आँखों में आँखें डालकर बोला, 'माई गॉड!... बड़ी आप इतना ख़ूबसूरत है कि हमको हीड़ोइन लाने का जड़ूड़त ही नहीं हैं। हमाड़ा हीड़ो पड़दीप जी है... आप उसके साथ हीड़ोइन का काम कड़ेगा हमाड़ी पिच्चड़

में? ... हम आपको पैसा भी देगा औड़ पोस्टड़ पड़ आपका नाम भी छापेगा।'

सुनन्दा को अजीब भी लगा और उसके चेहरे पर मुस्कुराहट भी तैर गई।

'नहीं...नहीं...आप कहीं और जाएँ।'

'वड़ी सोच लो...माड़ो गोली लोकेशन को। एक्टिंग के बाड़े में सोचो।' फिर तारा ने अपना कार्ड निकालकर उसे दिया, 'ये मेड़ा काड़ड है... इड़ादा बदलो तो मुझे फ़ोन कड़ना।'

सुनन्दा से कार्ड रस्मन रख लिया और वो अन्दर आ गई।

तारा होशियार था। वो जानता था कि कार्ड तो क्या, अगर वो अपना पूरा शजरा भी उसे दे आता तो भी सुनन्दा उसे कभी फ़ोन नहीं करेगी। इसलिए वह दूसरे दिन फिर उसके घर पहुँच गया। उसने फिर उसकी तारीफ़ की और उसे हीरोइन बनने के सपने दिखाए। तारा की नज़र में सुनन्दा की हवेली और उसकी सम्पत्ति बैठ गई थी और एक फ़ाइनेन्स ब्रोकर को पैसा सीधा होता दिख रहा था। अगर इस लड़की को बेवक़ूफ़ बनाकर इससे फ़िल्मों में पैसा लगवा दिया जाए तो क्या मज़ा आ जाए। लड़की ख़ूबसूरत भी है, सो वो फ़ायदा अलग!

जब बम्बई से फ़िल्म यूनिट आ गई और शूटिंग शुरू हो गई तब तारा ने सुनन्दा को सैट पर बुलाकर सारे स्टार्स से मिलवाया, बेहद इज़्जत दी। फ़िल्म के हीरो ने–जो उस समय का कामयाब सितारा था–भी सुनन्दा की ख़ूबसूरती की तारीफ़ की और तारा ही की बात दोहराई कि, 'बम्बई आकर तो देखिए... फ़िल्मवाले आपको हाथों-हाथ लेंगे। आप 'हाँ' तो कहिए, फ़िल्म तो मैं भी आपके साथ करने को तैयार हूँ, अभी!'

वहरहाल, लगातार सात दिन जब सुनन्दा के ज़हन में यह बात जाती रही–और वो भी उन लोगों के माध्यम से जिनको अब तक उसने परदे पर ही देखा था–अब सामने मौजूद थे–तो सुनन्दा आधे मन से ही सही, इस बात को मान गई। बम्बई में तारा ने वादा किया कि वह उसके लिए जुहू इलाक़े में एक फ़्लैट का बन्दोवस्त कर देगा।

सुनन्दा के मान जाने में लाइफ़ से उसकी बोरियत, पैसे की व्यर्थता और ख़ालीपन का ज़्यादा हाथ था, बम्बई की चमक-दमक और फ़िल्मी दुनिया का कम।

लिखे का खेल कहिए, अनहोनी कहिए–सुनन्दा बम्बई आ गई। तारा ने उसके लिए पाँच हजार रुपये माहवार पर जुहू तारा रोड पर एक बिल्डिंग में एक अच्छा-सा फ़्लैट ठीक कर रखा था। पाँच हज़ार महीना देना सुनन्दा के

लिए कोई मुश्किल बात न थी।

सुनन्दा बम्बई आ गई तो तारा ने उसे तमाम प्रोड्यूसरों/डायरेक्टरों से मिलवाया। पार्टियों में ले जाकर इंडस्ट्री के तमाम और लोगों से मिलवाया। जो भी हीरो सुनन्दा से मिलता, उनकी ख़ूबसूरती और तहज़ीब का मुरीद हो जाता।

पन्द्रह दिनों वाद तारा हीरो प्रदीप (जो कि शिमला में शूट करने गया था) को लेकर सुनन्दा के फ्लैट पर पहुँचा। सबका वहीं खाना खाने का प्रोग्राम था। अच्छी-अच्छी वाइन और व्हिस्की की बोतलें फ्लैट में मौजूद थीं। मेज लगवा दी जा चुकी थी। खाना वग़ल के फ़ाईव स्टार होटल सेंटॉर से आना था। लेकिन वे खाना भेजते नहीं थे इसलिए किसी को पैक करवाकर लाना था। यह जिम्मा तारा ने लिया। प्रदीप ने पहले तो इधर-उधर की बातें कीं, फिर आहिस्ता-आहिस्ता सुनन्दा की तारीफ़ करते हुए उसने उसे चूमा। वाइन अपना कुछ असर कर चुकी थी लेकिन वाइन से ज़्यादा यह था कि किसी मर्द की कुर्बत से बदन बहुत दिनों से महरूम था। हालाँकि शर्म और एहसास बाकी थे। सुनन्दा ने प्रदीप को झिड़क दिया। लेकिन बिल्ला जानता है कि कब मछलीवाला नाराज़ है और कब उसका मन बन रहा है। प्रदीप ने सुनन्दा को बाँहों में भरकर होंठों पर जब अपने होंठ रखे, सुनन्दा ने एक-आध बार उसे बरतरफ़ करने की कोशिश ज़रूर की, लेकिन मुद्दत से प्यासी इन्द्रियों की पुकार को वह नकार न सकी। फिर बहुत देर तक उस फ़्लैट में अँधेरे में चरागां होता रहा। हर साँस में प्रदीप उसकी तारीफ़ करता रहा।

तारा जब खाना लेकर आया तब तक दो घंटे बीत चुके थे। शायद उसने इसीलिए इतनी देर लगाई थी। हालाँकि उसके चेहरे से यह बात क़तई जाहिर नहीं हुई।

दूसरे दिन सुनन्दा को लेकर तारा चोपड़ा जी के पास गया। चोपड़ा जी बड़े प्रोड्यूसर थे। इंडस्ट्री में उनका नाम था। उनकी फ़िल्मों के लिए डिस्ट्रीब्यूटर और फ़ाइनेन्सर लाइन लगाए खड़े रहते थे। चोपड़ा जी वैसे भी अपने पैसों से कोई फ़िल्म नहीं बनाते थे। उनका उसूल था कि पैसा आएगा तो फ़िल्म आगे बढ़ेगी नहीं तो 'रोक दो'। हालाँकि 'रोक दो' का मौका आज तक कभी आया नहीं था। इस बार लेकिन सितारे कुछ और थे। उनकी पिछली दो पिक्चरें ठंडी गई थीं। डिस्ट्रीब्यूटर को नुक़सान हुआ था। फ़ाइनेन्सर्स मना तो नहीं कर रहे थे लेकिन इतनी आसानी से आ भी नहीं रहे थे।

यह बात तारा भी जानता था और यह भी जानता था कि यदि इस मौके पर

चोपड़ा को वह फ़ाइनेन्स दिलवाएगा तो दोगुना कमीशन माँग सकेगा।

'ये हैं सुनन्दा जी! हीड़ोइन हैं, बड़ी मुश्कल से इन्हें मना कड़ लाया हूँ।'

चोपड़ा जी ने सारी बात सुनी। फिर तय हुआ कि वह सुनन्दा को हीरोइन लेने को तैयार हैं बशर्ते कि वो फ़िल्म में पैसा लगाए और शिमला में अपनी हवेली में फ़िल्म की सारी शूटिंग करने दे। सुनन्दा को मनाने का काम तारा का था। हीरो प्रदीप तय किया गया।

'उसके साथ?... अरे छोड़ो यार!' प्रदीप ने कहा, 'साली मुर्दा है। कोई जान नहीं...लकड़ी है लकड़ी! तुम ही करो जो करो, वो कुछ नहीं करेगी!... ऐसी लौंडिया किस काम की? मैं नहीं करता उसके साथ पिक्चर!'

'लौंडिया मत देखो वड़ी... फ़िल्म देखो... पैसा देखो साईं...पैसा! चोपड़ा जी बनाएँगे, बड़ी पिक्चड़ है... डबल प्राइस दिलवाऊँगा।'

सुनन्दा ने कहा, 'पैसा मैं क्यों लगाऊँ?'

'वड़ी साईं... ज़्यादा पैसा लगाने को कौन बोलता है...? पचास हजाड़... बस! प्रोड्यूसड़ थोरा मुश्कल में है नी... हीड़ो भी पैसा दे ड़हा है। मैं भी दे ड़हा हूँ... थोड़ा तुम भी देओ। पिक्चड़ तो आगे बढ़े नी!'

मना-फुसलाकर सुनन्दा का पचास हज़ार रुपया फ़िल्म में लग गया। पिक्चर शुरू हो गई। यूनिट शिमला पहुँच गई। शिमला में पाँच दिन बाद प्रोड्यूसर के पैसे खत्म हो गए। उसे कुछ 'उधार' चाहिए था। एक लाख रुपये फिर माँग लिये गए। प्रदीप का सुनन्दा के साथ सोने का रास्ता खुल ही चुका था। एक रात टहलते-टहलते तारा आ गया। सुनन्दा नाईट गाउन में सोने ही जा रही थी। तारा पहुँचा तो कुछ देर बातचीत हुई। फिर उसने जो हाथ फिराने शुरू किए तो सुनन्दा की नाईटी के नीचे तक पहुँच गए। चिल्लाना बेकार था। चिल्लाती तो अपनी ही बदनामी करवाती। यूनिट वाले सुनते तो बदनामी होती, मज़ाक़ उड़ाते। सुनन्दा ने तारा को थप्पड़ मार दिया।

'साली थप्पड़ माड़ती है?' तारा ने सुनन्दा को जवाबी थप्पड़ मारा, 'फ़िल्म में लेके आया में, हीड़ोइन बनवाया मेंने...उस चूतिये पड़दीप को देती है, मेड़े को नईं देती, ...में तुझे बड़बाद कड़ सकता हूँ... समझी न!' और तारा ने सुनन्दा के कपड़े उतार दिए और बाकायदा उस चढ़ गया।

शिमला में महीने-भर शूटिंग के बाद शूटिंग बम्बई में भी थी स्टूडियो में। वापस आकर चोपड़ा जी ने पैसों का तक़ाज़ा किया। तब तक सुनन्दा की जेब से धीरे-धीरे करके बीस लाख रुपये ख़र्च हो चुके थे। पूरी पिक्चर उसके ही

पैसों से बनी थी और उस बीस लाख रुपये में से न जाने कितना तारा और चोपड़ा ने अन्दर कर लिया था। सुनन्दा की हालत यह हो गई थी कि उसे जुहू के फ्लैट का किराया देना भी अब दूभर हो रहा था। अब वो टैक्सी से नहीं, बस से प्रोडक्शन ऑफ़िस आती थी। ज़मीनें बिक चुकी थीं, हवेली उसकी गिरवी रखी थी और ब्याज अदा करने को पैसा उसके पास नहीं था। जब वो अपना फ़िल्म में लगाया पैसा माँगती तो उसे टका-सा जवाब मिलता, 'पिक्चर तो रिलीज़ होने दे! पैसे का ढेर लग जाएगा तेरे पास! हिट पिक्चर है।'

रिलीज़ के पहले पिक्चर की कोई ख़ास पब्लिसिटी नहीं थी। प्रोड्यूसर को कुछ पड़ी नहीं थी क्योंकि पिक्चर तो किसी की भी थी नहीं। पिक्चर बैठ गई। अलबत्ता गाने थोड़े-बहुत चले। लेकिन गानों से इतना पैसा उन दिनों थोड़े ही आता था।

हालाँकि सुनन्दा ग़मज़दा थी लेकिन थी तो वो जवान और अब भी ख़ूबसूरत। अब वो अपने फ्लैट के किराए और अपने ख़र्चे के लिए धन्धा करने लगी। तकलीफ़ के दिनों में उसने पीना भी शुरू कर दिया था। महीने में कम-से-कम एक-आध हीरा व्यापारी उसे बुला लेता था।

हिन्दुस्तान में अरब देश के लोग भी इस दौरान बहुत आने लगे थे, सो उनको यह सुनकर बहुत ख़ुशी होती थी कि जिस लड़की के साथ वो सोने वाले हैं वो फ़िल्म स्टार है। सुनन्दा के दलाल भी पैदा हो गए थे और अब शिमला छूटकर बम्बई ही उसका मुस्तक़बिल हो गया था। फ़िल्मवालों के नाम से उसे नफ़रत हो गई थी और जब कभी भूले-भटके अगर किसी फ़िल्म का ऑफ़र आ भी जाता तो वह उसका फ़ोन भी नहीं लेती थी।

इसी के चलते एक दिन एक अरबी शेख़ ने उसे एक पांच सितारा होटल में बुलाया। बात करते-करते पता नहीं क्या तो उसने पूछा और जवाब में क्या समझा—उसने अपनी जलती हुई सिगरेट सुनन्दा की जाँघ पर रगड़कर बुझा दी। सुनन्दा जलन में चिल्लाई तो शेख़ ने उसे ज़ोर से थप्पड़ मार दिया।

उसको ग़ज़ब का सदमा पहुँचा। उस दिन के बाद सुनन्दा ने अपने फ़्लैट से निकलना बन्द कर दिया। वह नीचे ही नहीं उतरती थी। शायद बीमार हो गई थी। कुछ दिन बाद जब उसके फ़्लैट से बदबू आने लगी और जब दरवाजा तोड़ा गया तब पता चला कि सुनन्दा मर चुकी थी और उसकी लाश सड़ रही थी। उसको ले जाने और जलाने का काम महानगर पालिका के कर्मचारियों ने किया। वे आपस में बतियाते रहे कि यह फ़िल्म हीरोइन थी और उन लोगों ने

उसे बड़ी इज़्जत भी दी।

दूसरे दिन जब अख़बारों में इस मौत की छोटी-सी ख़बर छपी तब तारा किसी दूसरी लड़की को लेकर एक दूसरे प्रोड्यूसर के दफ़्तर में गया हुआ था। चोपड़ा जी एक नए उभरते हुए 'हीरो मैटीरियल' की तस्वीरों का मुआयना कर रहे थे और फ़्लैट का मालिक कोई दूसरा किराएदार ढूँढ़ रहा था।

आत्म-हत्या

"इसकी बातों में आ गए तो गुरु ज़मीन से भी जाओगे और ज़िन्दगी से भी जाओगे। इन अँग्रेजी पढ़ों की करनी कुछ और कथनी कुछ और ...। तीर कहीं निशाना कहीं।"

बंड्या ने अपनी बुझती चिलम से लगातार कश खींचते हुए कहा।

"बातें लगती तो ठीक हैं वैसे उन लोगों की।" एक ने कहा।

"यही तो करिश्मा है उन हरामियों का।।अच्छे-अच्छे लगते हैं अच्छा-अच्छा बोलते हैं और फिर अच्छी तरह लूट लेते हैं।"

"बंड्या दादा! तुम जो भी कहो, ज़मीनें तो हमारी सूखी पड़ी हैं न...फसल तो हमारी अच्छी नहीं हो रही है न...पानी तो नहीं है न...! बारिश का ठिकाना ही नहीं है...तो अगर हम इस तरह मर रहे हैं तो अगर उनकी बात मानकर भी मर गए तो फ़र्क़ क्या है! हो सकता है उनकी बात में सच्चाई हो, हमारी हालत सुधर ही जाए!" दूसरे ने अपने मुँह से तम्बाकू की पीक थूकी।

"फर्क ये है कि अभी बर्बाद होंगे तो कम-से-कम ज़मीन तो अपनी रहेगी," बंड्या ने बुज़ुर्गी के लहजे में समझाया, "उनकी मान के बर्बाद हुए तो वो तो साले हमारी ज़मीन भी ले जाएँगे! फिर हम खाएँगे क्या और बोएँगे क्या!"

बंड्या किसानों के बीच बैठा अपनी बुज़ुर्गी झाड़ रहा था। सूरज ढले के बाद छोटे से गाँव- चुड़ावा- के किसान आपस में घेरा बनाए बैठे विचार-विमर्श में थे। ये सिलसिला पिछले दो महीनों से हफ्ते में दो बार तो बन ही जाता था। कुछ किसान परेशान थे, कुछ कन्फ्यूज़्ड थे, कुछ बौखलाए हुए थे। ऐसा सिलसिला तब से चल रहा था जब से महाराष्ट्र के परभणी जिले के इस छोटे-से गाँव में नाथूराम बागवे और चन्द्रकान्त भोइर का आना जाना शुरू हुआ था।

नाथूराम बागवे कोंकण इलाके के कंकव्ली गाँव के एक मामूली किसान परिवार से था, लेकिन खेती से पूरा पड़ता नहीं दिखा तो उसके पिताजी नौकरी के सिलसिले में सतारा आए और वहीं बस गए। तब से खेती-बाड़ी से उन सबका रिश्ता कम हो गया था। कम हो गया था, समाप्त नहीं हुआ था। क्योंकि

चाचा, ताऊ तो अभी गाँव में ही थे और खेती ही उनकी आमदनी का एकमात्र ज़रिया था। नाथूराम ने साइंस से एस एस सी किया। केमिस्ट्री उसका रुचिकर विषय था और बॉटनी उसे निहायत पसन्द थी क्योंकि उसमें पेड़ पौधों की बातें थीं और पेड़ पौधों से तो उसका 'जीनिटिक' लगाव था। कृषि विज्ञान में ग्रेजुएशन उसने किया वरोरा से। बाबा आमटे के आनन्द आश्रम स्थित यूनिवर्सिटी से। वहाँ उसके संस्कार सेवा से जुड़े और वहाँ उसने सीखा कि किस तरह केवल सही काम करना या किसी की सेवा कर देना या इलाज कर देना ही काफ़ी नहीं होता, ज़रूरी होता है किसी शख़्स या किसी स्कीम या किसी चीज़ को ऐसी नौबत तक पहुँचा देना जिससे वो सक्षम हो जाए, सेल्फ सफ़ीशेन्ट हो जाए, उसे फिर किसी बात के लिए किसी सहारे कि ज़रूरत न पड़े। वहीं उसने नेचुरल/ आर्गेनिक खेती के तौर-तरीक़ों के बारे में सीखा। इन्टरनेट पर भी इस सब के बारे में बहुत कुछ उपलब्ध था, इसलिए उसने तमाम लोगों के रिसर्च पेपर्स और किताबें पढ़ीं और दुनिया के तमाम कृषि विशेषज्ञों से तबादल-ए-ख़्याल किए। जब उसने डिग्री हासिल कर ली तो नौकरी के लिए जद्दोजहद शुरू हुई। उस सिलसिले में उसकी मुलाक़ात मुंबई यूनिवर्सिटी के कृषि विभाग के प्रोफेसर डॉक्टर गोपाल पाण्डे से हो गई। प्रो. पाण्डे को नौजवान बागवे की बातें और हौसले पसन्द आए और नौकरी क्योंकि कोई ख़ाली नहीं थी इसलिए उन्होंने इसे टेम्परेरी तौर पर रिसर्च एसोसिएट की जगह रख लिया।

डॉक्टर पाण्डे कृषि में पी-एच. डी. थे और उनके कई रिसर्च पेपर्स प्रकाशित हो चुके थे। एकेडमिक क्षेत्र में उनकी बड़ी धाक थी। वो हमेशा नाथूराम से कहा करते थे, "जी लगा के मास्टर्स कम्पलीट कर, दो-चार रिसर्च पेपर्स लिख। दो-चार रिसर्च पेपर्स लिखेगा, अपना कुछ नाम करेगा। कम-से-कम लेक्चरर तो हो जाएगा। फिर रास्ता खुला है।"

" दूसरों के लिखे-पढ़े-कहे को एयर कंडिशन्ड लाइब्रेरी में बैठकर कट-पेस्ट करूँ...?"

"उसे रिसर्च कहते हैं! हर एक के बस का नहीं है!"

"सर! खेती के बारे में कुछ करना है तो ज़मीन पे जाकर करना पड़ेगा। किसान के साथ। ये अँग्रेजी में लिखकर भारतीय किसान का क्या फ़ायदा! वो तो पढ़ा-लिखा भी शायद नहीं है!...। जब मैं ज़मीन से जुड़कर ऐसा कुछ कर लूँगा जिससे इस देश के किसान की तकदीर सँवर सके ...तब ज़रूर अपने तजुर्बे लिखूँगा ताकि पढ़ने वालों को इबरत मिले! अभी क्या लिखूँ...?"

"तुझ से बात करना बेकार है!"

अप्रैल का महीना था। यूनिवर्सिटी में इम्तिहान हो चुके थे। मई से छुट्टियाँ होने वाली थीं। नाथूराम के घरवाले शिरडी जाने का कार्यक्रम वना रहे थे। उसी गर्मी में बड़े ज़ोर-शोर से महाराष्ट्र के गाँवों से किसानों की आत्महत्या की ख़बरें आ रही थीं। नाथूराम इस सब से बहुत व्यथित था। किसान आत्महत्या कर रहे थे, क्योंकि उनकी फ़सल ठीक नहीं हो रही थी। उनके पास खाने को, अपने परिवार को खिलाने को नहीं था। बारिश दो साल से ठीक से नहीं हो रही थी। बैंकवाले किसानों को बहला कर अनाप-शनाप कर्जे दे आए थे, जो उन बेचारों ने अनजाने में ले लिए थे और अब उनके पास उसे अदा करने का पैसा नहीं था। इन आत्महत्याओं का सिलसिला बढ़ता ही जा रहा था।

"कब तक ये लोग बारिश के भरोसे जिएँगे!" नाथूराम ने अखवार फेंकते हुए कहा।

"तो तू क्या भगवान् से लड़ेगा?"

"भगवान् ने बुद्धि दी है, इस्तेमाल करो... !...बारिश के इंतज़ार में वैठकर क्या होगा!

"ठीक है हम लोग शिरडी चल रहे हैं न। बाबा से बारिश के लिए, सब किसानों के लिए प्रार्थना करना।"

"मैं परभणी जा रहा हूँ।"

"क्या?...तू हमारे साथ नहीं आ रहा है?" नाथूराम की माँ को झटका लगा।

"नहीं।"

"परभणी काय को?"

"परभणी जिले में एक गाओं है चुड़ावा ...में वहाँ जा रहा हूँ।

"चुड़ावा क्यों?"

"वहाँ किसान मर रहे हैं आई!"

"तो किसान तो बहुत जगह मर रहे हैं ...। चुड़ावा ही क्यों?"

"क्योंकि परभणी में मुझे फेसबुक पर एक मित्र मिला है जो कि किसान है और उसने खेती के नए तरीके ईजाद किए हैं। हम दोनों गाओं वालों की मदद करेंगे। पन्द्रह दिन में जाऊँगा, पन्द्रह दिन वो जाएगा!

"और पन्द्रह दिन में किसान की तक़दीर बदल जाएगी?!"

"हालत तो बदल ही जाएगी!"

"तुम्हारा दिमाग ख़राब हो गया है बागवे!" प्रोफेसर पांडे ने लताड़ लगाई, "तुम फेसबुक पर मिलने वालों का विश्वास करते हो? रोज़ पढ़ते हैं कि सोशल साइट्स पर लोग कितने 'फेक' प्रोफ़ाइल्स बनाकर बैठे हैं... और दूसरी बात, हर बार पन्द्रह-पन्द्रह दिन के लिए तुम्हें छुट्टी कैसे मिलेगी? यूनिवर्सिटी में कोई क़ानून है कि नहीं!" बात ठीक थी। नाथूराम ने माना लेकिन गाँव जाने कि लालसा सारी बातों को दबा गई।

"जाकर देखता हूँ सर!...परभणी वाला नहीं चलेगा, न चले। मुझे साल भर की स्टडी लीव मिलेगी मैं उसमें चला लूँगा। नहीं कर पाऊँगा तो वापस आ जाऊँगा लेकिन कोशिश तो करनी चाहिए न!"

प्रोफेसर पाण्डे हालाँकि नाथूराम को डाँटते रहते थे, उससे असहमत रहते थे लेकिन दिल में कहीं नाथूराम उन्हें अच्छा लगता था। नाथू में जोश था, लोगों का भला करने की चाह थी जो शायद प्रो. पाण्डे में भी थी लेकिन ज़िन्दगी के और जीने के चक्कर में वे इस ओर कुछ कर नहीं पाए थे।

नाथूराम का परभणी का फेसबुक वाला दोस्त– चन्द्रकान्त भोइर -फेक नहीं था। किसान परिवार से था। पूना विश्वविद्यालय से उसने कृषि में स्नातक की डिग्री ली थी। डिग्री लेकर वो अपनी ज़मीनों पर गाँव में वापस आ गया था। परभणी में उसका पुश्तैनी मकान था जहाँ वो लोग तीन पीढ़ियों से संयुक्त परिवार में रह रहे थे। वहीं पास के गाँव में उनकी अच्छी-ख़ासी खेती थी। चन्द्रकान्त अपने खेतों में ख़ुद के ईजाद किए नए-नए तजुर्बे करता रहता था और उनके बारे में फेसबुक पर लिखता रहता था। इसी से उसकी और नाथूराम की इन्टरनेट पर मुलाक़ात हुई थी। चुड़ावा के किसानों की तकलीफ ने उसे भी दुःखी किया था। वो चुड़ावा जा चुका था। उसने वहाँ के सरपंच से किसानों की मदद की बावत बात भी की थी, लेकिन सरपंच ने चन्द्रकान्त के कहे को एक मामूली किसान की बातें समझकर हँसी में टाल दिया था। उसके बाद चन्द्रकान्त ने चुड़ावा का इरादा छोड़ दिया था। फिर अचानक नाथूराम बागवे चन्द्रकान्त भोइर से फेसबुक पर एक दिन फिर टकरा गया। दोनों के पास आइडियाज़ थे, दोनों फ़ॉरवर्ड लुकिंग थे, दोनों में चुड़ावा का जज़्बा फिर जाग उठा। जब मिले तो दोनों चन्द्रकान्त की मारूति वैन में बैठकर चुड़ावा गए। सरपंच से मिलकर उन्होंने सारे किसानों से मीटिंग करने की बात की।

"क्यों?... किसानों से मीटिंग कायको?...तुम क्या लीडर है?"

"हम किसानों को बताएँगे कि केवल बारिश पर ही निर्भर मत रहो।"

"तो ये बताने को तुमीछ माँगता है?...में नई बताया क्या उनको?"

"हमने भी बताया तो क्या हुआ! किसी का भला होता हो तो उसमें क्या!"

"मेरा क्या?"

"मने?"

"मने मेरा क्या?...में तुम लोग का फारमर लोग के साथ मीटिंग बिठाएगा तो मेरा क्या?...कितना देगा?"

"हम यहाँ लेने-देने नहीं आए हैं। न हमारा इसमें कोई फ़ायदा है।

"आ...ए...हाय ...!" सरपंच मंदार शिर्के ताली बजाकर हँसा, "तुम्हारा कोई फ़ायदाछ नई हाय...! ऐसे इ आइले तुम गाड़ी चला के इतनी दूर से...। ...चूतिया बनाते हो... !...जाओ...मेरे गाँव में तुम्हारा ये काला जादू चलने वाला नईं हाय...!"

बहुत दलीलें दी गईं लेकिन सब बेकार। नाथूराम और चन्द्रकान्त के किसानों से मिलने के लिए कोई मीटिंग नहीं बुलाई गई। रात को परभणी वापस आते में दोनों ने सोचा 'न बुलाएँ मीटिंग, हम हर एक से मिलेंगे'। दूसरे दिन से सिलसिला शुरू हुआ। सुबह गाँव पहुँचते थे, हर एक के खेत में जाते थे। कोई मिला तो ठीक नहीं तो सीधे बस्ती में जाते थे और वहाँ किसी एक से अपनी बात करने लगते थे, बाक़ी लोग अपने-आप आ जाते थे और मजमा जुटने लगता था।

"बारिश इस बार भी नहीं हुई तो?!"

"तो क्या करेगा बाबा ...भगवान् का जैसा मर्जी!"

"भगवान् ने पैदा किया है भगवान् ने कहा है कि हर जीव के भरण-पोषण की ज़िम्मेदारी वो लेता है। लेकिन अगर हम हाथ पैर ही न चलाएँ तो क्या खा सकेंगे?"

"हाथ-पैर तो हम चलाते हैं फिर भी अगर हमारी किस्मत में नहीं है तो हम क्या करें?"

"हाथ-पैर के अलावा भगवान् ने बुद्धि भी तो दी है!"

"बुद्धि से पानी बरसेगा?" एक ने कहा और सारे किसान हँस दिए। कुछ इस बहस को बेकार कहते हुए वापस चले गए, कुछ जो रुक गए वो भोइर और बागवे को बेवक़ूफ़ क़रार देते रहे।

पाँच-छह दिन तक ऐसे सिलसिले अलग-अलग जगहों पर चलते रहे। कुछ लोग चुपचाप अब भी इन पर हँसते रहे, कुछ अब सवाल पूछने लगे, कुछ

वक़्त काटने के लिए वहाँ बस खड़े होने लगे।

"पानी बोर वैल में भी मुश्किल से आता है। पीने के लिए दिक्क़त है ऐसे में खेती क्या करें?"

" बोर वैल में पानी, हमें मालूम है, बस 400 फुट तक ही है। थोड़े ही दिनों में समाप्त हो जाएगा। पोखर सब सूख गए हैं। तो इसकी ज़िम्मेदारी किसकी है?...तुम्हारी...सबकी..!"

"कायको?... हमारी कायको?"

"इसलिए कि जब बारिश आई, पानी बरसा, तो तुमने पानी संचय करने का कोई इंतज़ाम नहीं किया।"

"पानी संचय! ...अरे पानी बरसता है तो क्या बाल्टी में भर के रखूँ? ...वो कितना दिन चलेगा?...क्या बात करता है तुम!"

"बाल्टी में रखा पानी दो दिन चलेगा?"

"चलो माना! दो दिन चलेगा!"

"तो अगर पानी बाल्टी की बजाय कुएँ में भर कर रखो तो महीना भर चलेगा?"

"हाँ!"

"ऐसे ही ज़मीन के अन्दर अगर पानी जमा करके रखो तो छह महीने चलेगा! तालाब खोदकर भर लो तो साल-भर चलेगा!... फिर यदि साल भर बारिश नहीं हुई तो भी पानी की कमी नहीं होगी।"

सब किसानों ने एक-दूसरे की ओर विस्मय से देखा– "ये तो कभी सोचा ही नहीं था!"

"मैंने अपने खेतों में किया है। गाँव में दो तालाब बनाए हैं।" चन्द्रकान्त भोइर ने समझाया, "हमेशा भरे रहते हैं इसलिए पानी की कभी भी कमी नहीं पड़ती। हम आपको बताएँगे कि ये सब कैसे कर सकते हैं।"

उस मजमे में बंड्या भी था। बोला– "एक बात पूछूँ?"

"क्या?"

"तुम इधर कायको आया?"

"तुमको ये बताने कि बारिश पर ही निर्भर मत रहो...पुरुषार्थ करो!

"कायको?"

"माने?"

"माने हमको ये बता के तुम्हारा क्या फ़ायदा?"

"हमारा क्या फ़ायदा? ...कुछ नहीं!"

"ये देखो भाई लोग", वंड्या ने सब की तरफ़ देखकर कहा, "ये आया अपना किराया खर्च करके, पेट्रोल फूँक के, अपना टाइम लगा के- हमारा मदद के लिए...इसमें इनका कोई फ़ायदा नईं...। ये भगवान् हैं!...हें हें हें हें... !"

सब किसान हँस दिए।

मन्या नहीं हँसा। उसने कहा, "तुम इसका सुनता तो है नईं...इसे बोलने तो देओ कि ये क्या बताने आया है... !"

"ए मन्या! चुप कर!" मजमे में से एक किसान ने धमकाया, "ये शहर के पढ़े-लिखे हरामी लोग हंय...। ये हमारे मित्र नय हंय...। ये सब साले अपने फ़ायदे के लिए इदर आएले हंय! इनका फ़ायदा क्या हाय वो ये ही जानते हंय!"

मन्या चुप हो गया लेकिन शान्त नहीं हुआ। उसकी जिज्ञासा ज्यों-की-त्यों बनी रही।

फिर एक तेज़-तर्रार किसान ने नाथूराम से मुख़ातिब होकर कहा, "इस गाँव में तीन आदमी आत्महत्या कर चुके हैं। हमें और आत्महत्याएँ नहीं चाहिए। तुम लोग अपना ज्ञान कहीं और बाँटों और यहाँ से जाओ।"

नाथूराम और चन्द्रकान्त दोनों मजबूर होकर वापस चलने लगे तो सरपंच ने धीरे से लेकिन ज़ोर देकर कहा, "जाओ...। अब आए तो अच्छा नहीं होगा!"

"एक बात मैं भी पूछूँ?" चन्द्रकान्त ने सरपंच से पूछा।

"क्या?"

"किसानों के फ़ायदे से तुम्हारा क्या नुकसान होगा? गाँव के लोग समृद्ध होंगे तो सरपंच तो तुम ही हो, नाम तो तुम्हारा ही होगा!"

जवाब सरपंच के साथी से आया, "अबे चूतिये!...अगर गाँववाले समृद्ध हो गए, सक्षम हो गए तो साहेब को कौन पूछेगा बे?...हें हें हें हें... !

सरपंच ने साथी की ओर घूर के देखा। उसका हँसना बन्द हो गया। फिर सरपंच-मंदार- ने चन्द्रकान्त से कहा– "तुम्हारा इरादा क्या है? तुम चाहते क्या हो?"

"मैं चाहता हूँ के गाँव में ख़ुशहाली हो।"

सरपंच चुप हो गया। बग़ैर बोले चला गया। उसके साथी भी उसके पीछे चले गए।

उसी शाम को बंड्या ने अपने तजुर्बे से किसानों को ये समझाने की कोशिश की थी कि यदि नाथूराम और चन्द्रकान्त की बातों में आ गए तो 'जान से तो जा ही

रहे हो, ज़मीनों से भी जाओगे...क्योंकि इनकी कथनी कुछ और है और करनी कुछ और'। चाहे इत्तेफ़ाक़ हो या जान-बूझकर ये बात कुछ इतनी ऊँची आवाज़ में कही गई थी के चन्द्रकान्त और नाथूराम सुन लें। दोनों वैन की ओर चल ही दिए थे। "चल यार"... नाथूराम से चन्द्रकान्त ने कहा, "दो महीने होने को आए यहाँ आते-आते...। जब किसानों को ही नहीं पड़ी तो हम कहाँ तक सर मा रेंगे...। बन्द करें यहाँ आना।" गाड़ी का दरवाज़ा खोला ही था कि एक किसान-मन्या-पास आया।

"आपकी बातों से मैं सहमत हूँ। हम इस तरह तो मर ही रहे हैं। आपकी बात मानने में मुझे कोई हर्ज नहीं है।"

नाथूराम की नसों में फिर जोश दौड़ गया। मन्या को दूसरे दिन से 'नाथू' और 'चन्दू' ने सक्षम होने के तरीके बताए।

"पानी भगवान बरसाता है...जमा करना हमारा काम है। इसके लिए कृत्रिम तालाब बनाने चाहिए, कुएँ खोदने चाहिए ताकि साल-भर पानी मिल सके! खेती के लिए ज़मीन की पैदावार कैसे बढ़ाई जाए। कौन-सी फसल कब उगाई जाए। बुवाई कितनी-कितनी दूर पर की जाए, बूँद-बूँद सिंचाई के लिए व्यवस्था ऐसे कैसे की जाए के पानी बिल्कुल बर्बाद न हो। आस-पास के दो किसान मन्या के कहने पर और आ गए। वे भी नाथू के बताए तरीक़े अपनाना चाहते थे।

"नौकरी छोड़ दूँगा, क्या मतलब?" प्रोफ़ेसर पाण्डे ने नाथूराम से पूछा।

"वहाँ मेरी ज़रूरत है।

"जानते हो नौकरी कितनी मुश्किल से मिलती है?"

"लोगों की सेवा का मौक़ा भी आसानी से नहीं मिलता सर!"

"तुम तो कहते थे पन्द्रह-पन्द्रह दिन के लिए जाओगे! देख लिया न कि ऐसा नहीं होता!...ऐसा करो...छुट्टी ले लो!"

"साल-भर की?"

"मैं सैन्कशन करवा दूँगा!... सॅबतिकल!...रिसर्च करो, स्टडी करो... जो भी करो बस इस तजुर्बे को लेकर एक किताब या पेपर पब्लिश कर देना।"

"बिल्कुल करूँगा...! थैंक यू सर!" नाथूराम ने पण्डे जी के चरण छुए। गुरु ने आशीर्वाद दिया।

नाथूराम और चन्द्रकान्त का काम चुड़ावा गाँव में तक़रीबन साल-भर चला। इस बीच जितनी भी बारिश आई उससे कृत्रिम तालाबनुमा बनाए गए और खेती के और सिंचाई के तरीक़े बदले गए। जब फ़सल जमने लगी तो और

किसानों की नज़रों में चढ़ने लगी। एक दिन एक सरपंच का आदमी मिला- "किसानों से मिलते हो...साहेब से भी तो मिलो।"

लगातार मेहनत के बाद मन्या और आस-पास के लोगों की फसल अच्छी हुई और उन्हें पानी की तकलीफ़ भी नहीं हुई। इतना इंतज़ाम हो गया था कि यदि बारिश अगले साल तक न हो तो भी वे अपनी पानी की ज़रूरत पूरी कर लेंगे। एक दिन शाम को मन्या के खेत के पास चन्द्रकान्त और नाथूराम बैठे भाखरी और पिठ्ला खा रहे थे कि गाँव के कुछ किसान आए और उन्हें घेरकर खड़े हो गए। नाथू ने देखा लेकिन उन पर ध्यान नहीं दिया। वो सर झुकाकर खाने में लगा रहा।

"साहेब!" एक किसान ने पुकारा।

"क्या?"

"मन्या की खेती देखकर हम आपके पास आए हैं।"

"अच्छा...!"

"हम अपनी ज़मीन के कागज़ लाए हैं। ये भी ले लेओ...हमारी ज़मीन पर भी ऐसी ही फसल पैदा करो...।"

"हम तुम्हारी ज़मीन के कागज़ात लेकर क्या करेंगे?"

"तो क्या तुम हमारी ज़मीनें नहीं लोगे?"

"हम तुम्हारी ज़मीन का क्या करेंगे?"

"हमको बताया गया था कि तुम हमारी ज़मीनें ले लोगे!"

"ज़मीनें तुम्हारी हैं ...मैं कैसे ले सकता हूँ... मुझे तुमसे कुछ नहीं चाहिए... तुम ख़ुशहाल हो जाओ... बस!"

दूसरे दिन से गाँव के बचे हुए दूसरे खेतों पर काम शुरू हो गया। भगवान् ने भी मदद की और अषाढ़ में बारिश हो गई, ज़मीनें गीली हो गई और कुछ-कुछ कुओं में भी पानी भर गया।

इसी साल दो महीने बाद सरपंच के चुनाव भी होने थे। चुनाव में मंदार शिर्के को इस बार भी निर्विरोध चुने जाने का पूरा भरोसा था। लेकिन गाँववाले कुछ और सोच रहे थे!

"देख रहे हो दादा क्या हो रहा है तुम्हारे आस-पास?" मंदार के सहयोगियों में से एक ने एक दिन कह ही दिया।

"क्या?"

"गाँववालों में भावना ये है कि बंड्या को भड़काकर तुम्हीं ने नाथूराम और

चन्द्रकान्त के ख़िलाफ 'प्रोपोगंडा' करवाया था"

"किया तो सालों ने काम...! उनको रोका किसी ने?"

"बस! और उनका काम हो गया!"

"क्या मतलब?"

"मतलब ये कि सारे गाँववाले बंड्या को नाम धर रहे हैं और तुम्हारे नाम से थू थू कर रहे हैं! वो कहते हैं कि तुम्हारे ही कारन गाँव की तरक़्क़ी में देर हुई। तुम आने देते तो चन्दू और नाथू बहुत पहले ही काम शुरू कर देते!... लोग मन्या को सरपंच बनाने के चक्कर में हैं!"

"ऐसा?"

"ऐसा!...तो सोच लो ...ये जो किसानों की आत्महत्या के नाम पर, गाँव में सूखे के नाम पर, डवलपमेंट के नाम पर...जिस-जिस नाम पर जो-जो सरकारी-ग़ैर-सरकारी रक़म आती है वो तो जाएगी ही, जो इधर-उधर कटौती करके आपके खाते में जाती है वो भी जाएगी!"

"ऐसा?"

"ऐसा!...लाखों का मामला अचानक ठप्प हो जाएगा!...फिर हमारा सोचो...हमारा क्या होगा!...हम तो आपसे ही बँधेले हैं!"

"ठीक है!" मंदार ने दूर अंतरिक्ष में देखते हुए गहरी सोच के साथ कहा।

चार दिन बाद नारियली पूर्णिमा थी। बहन का सख़्त बुलावा था। नाथूराम और चन्द्रकान्त को राखी बँधवाने परभणी जाना ही था। सुबह-सुबह का वक़्त था। मौसम में हल्की-हल्की फुहारें थीं और हवा में ज़रा-ज़रा ठंडक। दोनों वैन में बैठकर परभणी के लिए चल दिए। वैन गाँव से निकलकर सड़क पर मुड़ने को हुई ही थी कि दायीं तरफ़ से न जाने कैसे पूरी रफ़्तार से दौड़ता हुआ एक ट्रक आया और वैन से पूरे ज़ोर से टकरा गया। मारुती वैन के परख़च्चे उड़ गए और उसमें बैठे दोनों नौजवान हमेशा के लिए गाँव से क्या दुनिया से ही चले गए!

उस दिन गाँव की लड़कियों ने शोक-दिवस मानकर अपने भाइयों को राखी नहीं बाँधी और न गाँव के किसी घर में रात को चूल्हा ही जला। इस साल जब गणपति बैठाए गए तो झाँकियों में चन्दू और नाथू के पुतले बनाकर भी रखे गए।

समय गुज़रता गया लेकिन फिर कभी चुड़ावा गाँव से किसी किसान के आत्महत्या की ख़बर नहीं आई!

अपना अपना शून्य

प्रकृति अपूर्ण है और पूर्णता की तलाश में भटक रही है। पेड़-पौधे हों, जीव-अजीव हों, इन्सान-जानवर हों, कीड़े-मकौड़े हों अपूर्णता सब में है। हर एक के अन्दर एक शून्य है। कुछ ख़ाली है। कमी है। और इसीलिए हर एक को पूर्णता की तलाश है, क्योंकि आनन्द केवल पूर्णता में है। कष्टों का, दुःखों का निवारण केवल पूर्णता में है। हर एक के अन्दर की यह अपूर्णता उसके अपने प्रकार की अपनी है और वैसी ही अनोखी है जैसे कि उसका आकार या उसका मन और हर एक की यह अपूर्णता-शून्य व्यक्त भी उसकी अपनी तरह अलग-अलग और अपनी अनोखी तरह ही होता है। हर एक का व्यवहार और आचरण उसके इन्हीं लेकुनाज़-शून्यों- को भरने की कोशिश है। उसकी अपनी अपूर्णता से पूर्णता की ओर का सफ़र। आनन्द की तलाश, सुख की प्राप्ति, मनुष्य की दैवत्य से तादात्म्य की कोशिश! इत्यादि-इत्यादि...!

जैसे अंक गणित का शून्य एक को लाख और करोड़ बना देता है, अन्दर का शून्य लोगों को पता नहीं क्या-क्या करने की ओर प्रेरित करता है और क्या-क्या करने पर मजबूर करता है– सही भी ग़लत भी! वैसे भी सही क्या है और ग़लत क्या है! अन्दर का शून्य केवल शून्य होता है– एक वैक्यूम– एक खालीपन! उसका अमीरी-ग़रीबी, इकलौतेपन या रिश्तों के अम्बार या सामाजिक यश होने न होने से कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि ये सब बातें तो वाह्य हैं, शून्य तो अन्दर है। मन के सारे क्रिया-कलाप तो इस शून्य को भरने के हैं। और मन की भटकन और आकांक्षाओं को अमीरी-ग़रीबी, यश इत्यादि से क्या लेना-देना और क्या लेना-देना उसका उम्र से! क्या कभी बड़े-बड़ों को समझ में आता है कि वे जैसे हैं वैसे क्यों हैं, जैसा बर्ताव करते हैं वैसा ही क्यों करते हैं? ...उम्र गुज़र जाती है लोग अपने-आपको ही नहीं पहचान पाते। अक्सर लोग ख़ुद अपने व्यवहार, अपने रिएक्शनों से ख़ुद ही चकित रह जाते हैं। फिर दीपक, बाड़ और गोविन्द तो बच्चे थे।

झाँसी के नरसिंघ राओ टौरिया मोहल्ले में यूँ समझिए कि बस ये तीन ही

आठ-दस साल की उम्र के थे और लोग या तो बड़े हो गए थे या बड़े हो रहे थे। तीनों के मकान एक-दूसरे से जुड़े हुए थे। एक तरफ़ बाड़ का छोटा-सा मकान जिसका चबूतरा बहुत बड़ा था– शायद उसकी वजह ये रही हो कि उन्होंने उस पर बग़ैर कुछ बनवाए उसे वैसे ही छोड़ दिया हो। बाड़ के घर की एक दीवार से जुड़ा हुआ गोविन्द का मकान था जिसे नाज़िर जी का घर कहा जाता था। नाज़िर जी का इसलिए, क्योंकि गोविन्द के ताऊजी– जिनका ये मकान था– वे कचहरी में नाज़िर रहकर रिटायर हुए थे, उन्हीं के नाम पर इस मकान का नाम पड़ गया था और चला आ रहा था। नाज़िर जी के मकान के दूसरी तरफ़ की दीवार लगी थी दीपक के मकान से जो कि उस मोहल्ले का ही नहीं बल्कि शहर के तीन-चार बड़े-बड़े मकानों में से एक था और उसे श्रीवास्तव साहेब की हवेली के नाम से जाना जाता था। तीनों मकानों के दरवाज़े एक मैदाननुमा खाली जगह में खुलते थे। वहाँ बच्चे खेलते भी थे और जाड़ों में कभी-कभी बड़े लोग–जब आँगन में धूप नहीं आती थी– तो कुर्सी डालकर बैठ भी लेते थे।

आज़ादी के बाद जिस तरह शहरीकरण ने अपनी जड़ें फैलानी शुरू कीं उसके नतीजे ये हुए के लोग गाँव से शहर और शहर से और बड़े शहर की ओर पलायन करने लगे। उसी की बदौलत हवेली भी अकेली रह गई वरना इसमें एक बार में पचीस से कम लोगों ने खाना नहीं खाया। अब तो ख़ैर हवेली ही हवेली रह गई है और उसमें रह गए हैं श्रीवास्तव साहेब, उनकी बूढ़ी बेचारी माँ और उनका सबसे छोटा लड़का दीपक। दीपक की माँ उसकी पैदाइश से ही पागल थीं सो उनका होना न होना बेकार था। कहते हैं दीपक से बड़ा भाई जब पैदा हुआ था उसके एक साल के अन्दर ही वे पागल हो गई थीं। इस बारे में भी तमाम किस्से थे कि किसी की नज़र लग गई, किसी ने हवेली की खुशियाँ देखकर कोई करनी कर दी... जो भी हो...। बहरहाल दीपक और उसके बड़े भाई की पाल-पोस, पढ़ाई-लिखाई सब श्रीवास्तव साहेब ने अकेले ही की। दीपक जब तक पाँच साल का हुआ तब तक उसका बड़ा भाई शहर के बाहर पढ़ने जा चुका था।

दीपक क़तई तौर पर अकेला रह गया था। तो स्कूल से आकर क्या किया जाए? या तो ख़ाली छतों पर दौड़ लगाई जाए या बाहर की ख़ाली पड़ी जगह में गिल्ली-डंडा खेला जाए। बरसातों में तो वो भी नहीं। क्योंकि सारे मोहल्ले के लड़के तो उस दौरान कंचे खेल रहे होते थे और कंचे खेलने पर घर में सख्त

मनाही थी–'कंचे आवारा लड़के खेलते हैं'। अच्छा अगर स्कूल की छुट्टियाँ हों तो? तो क्या करें? इसलिए होता ये था कि गोविन्द, दीपक और बाड़ तीनों आपस के घरों में– जब जैसा मन हुआ तव– कुछ खेलने चले जाते थे।

नाज़िर जी –घनश्याम स्वरूप सक्सेना– के एक छोटा भाई था श्याम स्वरूप सक्सेना। 'था' इसलिए कि पिछले दस सालों से वो लापता है और है भी कि नहीं– ये भी किसी को मालूम नहीं। गोविन्द उन्हीं की औलाद था। गोविन्द की माँ थीं। और जैसे कि तमाम हिंदुस्तानी औरतें हिंदुस्तानी घरों में इन हालात में जी लेती हैं वैसे ही वे भी जी रही थीं। वाहर वो ही शिष्टाचार, वो ही रीति-रिवाज, वो ही जैसे सब कुछ ठीक-ठाक है और अन्दर...! अन्दर क्या है ये शायद वे भी ठीक से नहीं जानती होंगी, क्योंकि अपने वारे में सोचने की न तो कभी पुरातन समाज ने औरत को फ़ुर्सत दी है न ही इजाज़त और दो-चार पल उधार जोड़-जाड़कर अगर उसने अपने हाल का अवलोकन कर भी लिया तो जिन सीमाओं में वो बाँध दी गई थी उन्हें तोड़ना मुश्किल ही नहीं ग़ैर-मुमकिन था। बहरहाल...घनश्याम स्वरूप जी अब रिटायर हो चुके थे और घर में मर्दों के नाम पर या तो वे थे या फिर गोविन्द! औरतों के नाम पर गोविन्द की माँ और उनकी जेठानी-घनश्याम जी के औलाद कोई थी नहीं। नाज़िर जी– घनश्याम स्वरूप सक्सेना– बड़ी रौबीली पर्सनालिटी के थे। सफ़ेद मूँछें, सफ़ेद बाल, गोरा रंग और जब वे अपनी सफ़ेद धोती और कुर्ते में छड़ी लेकर निकलते थे तो क्या मजाल कि ऐरे-ग़ैरे की नज़र मिलाने की भी हिम्मत पड़ जाए। नाज़िर जी दो बार ही घर से निकलते थे– एक सुबह जब वे नरिया बाजार तरकारी ख़रीदने जाते थे और दूसरे शाम को जब वे किले के मैदान की तरफ़ घूमने जाते थे। ज़िन्दगी एकदम रूटीन से बे-ज़लज़ला-ओ-तूफ़ान चल रही थी कि एक दिन न जाने उनको क्या सूझी, घरों के सामने पड़ी खुली जगह के एक कोने में उन्होंने मुनगे का दरख़्त बो दिया। जिसने घर के तुलसीघरे में कभी जल नहीं चढ़ाया उसने पेड़ लगा दिया और रोज़ाना सुबह-शाम उसमें पानी देने जाने लगा तो ताज्जुब तो होना ही था। "मुनगे का पेड़ है," सक्सेना साहेब ने कहा, "फलियाँ आएँगी तो सारे मोहल्ले वाले खाएँगे।" इत्तेफ़ाक़ से पेड़ जम गया और बढ़ने लगा, फिर सावन की फुहारें शुरू हो गईं, सो पेड़ की परवरिश से फ़राग़त हो गई। लेकिन बस क्वांर में पितृपक्ष ख़त्म हुए-हुए ही थे कि नवरात्रि की दूज को नाज़िर जी ने घर में मधुमक्खियाँ पालने का कार्यक्रम शुरू कर दिया। दिन-भर उसी में लगे रहते थे। छत्ता लगा तो उनकी

बीवी बेतरह चिल्लाईं, "मक्खियन से डसवाहो? मार डारहो!" लेकिन नाज़िर जी ने भरोसा दिलाया कि कुछ नहीं करेंगी ये पालतू मक्खियाँ हैं। नज़रायन के कलेजे को ठंडक जब पहुँची जब शहद निकलना शुरू हो गया। लेकिन उनका चिल्लाना तब फिर शुरू हो गया जब बोतल भर-भर के शहद नाज़िर जी दुनिया को बाँटने लगे।

"मुफ़्त?"

"अरे हम पैसा कमाने के लिए थोड़ो किए हैं ये सब। हमको शौक़ रहा हम कर लिये...बैठे-बैठे क्या करें...और आज तक कभी किसी के लिए कुछ किए हैं क्या?"

इस तरह सक्सेना साहेब अपना ख़ालीपना भरते रहे और ज़िन्दगी काटते रहे।

तीसरा था बाड़-बाड़ डोंगरकर! मराठी थे, झाँसी, ग्वालियर और इंदौर तो मराठी लोगों का गढ़ है। यही लोग कभी वहाँ राज गद्दी भी सँभालते थे। या तो पहली वजह से दूसरी रही हो या दूसरी के कारण पहली-इतिहास कौन जाने और लिखा हुआ इतिहास कितना सच्चा है यह भी कौन जाने! बाड़ के पिता थे, माँ थीं और एक छोटा भाई था। उसका घर काफी छोटा था। अन्दर जाओ तो एक ज़रा-सा कमरानुमा पड़ता था जिसे चाहें तो पौर कह लीजिए चाहे तो छतरी-चप्पल रखने की जगह। उसके बाद कोई छह-सात फुट का ज़रा-सा आँगननुमा और उसके बाद दोनों तरफ़ एक एक कमरा। छज्जे थे लेकिन छत पे जाने का कोई इंतज़ाम न था। गर्मियों में ये लोग बाहर खुली जगह में चारपाई डालकर सोते थे। पिता हनुमंत राव को अन्ना बुलाया जाता था और माँ को आई। खाना-पीना रस्म-ओ-रिवाज सब क़रीब-क़रीब महाराष्ट्रियन पद्धति का ही था। क़रीब-क़रीब इसलिए क्योंकि अब सब कुछ न तो पूरी तरह महाराष्ट्रियन रह गया था न इस तरफ़ का ही हो पाया था। कुछ था– एक बैलेंसिंग एक्ट! भाषा हालाँकि आपस में अक्सर मराठी ही बोलते थे, लेकिन उसका लहजा बाक़ायदा और बिल्कुल हिंदी की तरह ही होता था। बाड़ के यहाँ सब कुछ अपना था– अन्दर, बन्द, स्वयं में संतुष्ट। दरवाज़ा बन्द किया तो दुनिया से विदा ले ली। इसलिए बाड़ के यहाँ दीपक और गोविन्द का जाना कम और बाड़ का इन दोनों के यहाँ आना ज़्यादा होता था।

हनुमंत राव की माली हालत कोई ख़ास अच्छी नहीं थी। रेलवे के किसी मुहकमे में क्लर्क थे। झाँसी रेलवे का जंक्शन था, लोको वर्कशॉप था, इसलिए

रेलवे यहाँ बहुत बड़ी इंडस्ट्री थी और ज़्यादातर लोग रेलवे के मुलाज़िम थे या फिर कचहरी के– क्योंकि झाँसी ज़िले के और आस-पास की सारी तहसीलों के दीवानी और सेशन के मुक़दमे यहीं आते थे।

दीपक, गोविन्द और बाड़–तीनों ही अपनी-अपनी तरह अपने अन्दर कहीं कॉम्पलेक्सेस के मारे थे और अकेले थे। लेकिन इनमें से किसी को न इस बात का एहसास था न ये सब समझने की उनमें बुद्धि थी कि उनके अन्दर की साइकोलॉजी क्या रंग ले रही है और जो कुछ भी ये करते सोचते हैं वैसा क्यों करते सोचते हैं। उम्र होगी कोई आठ-दस साल। जवानी गदराई नहीं थी लेकिन गदराने को तैयार बैठी थी। सबसे ज़्यादा गर्मी गोविन्द को चढ़ रही थी। वो पहले तो दीपक के नेकर पे हाथ फिराता रहा फिर एक दिन बोला– यार एक दिन आओ दोपहर में, दिखाऊँ तुमको जलवा। दीपक ज़रा शरीफ़ क़िस्म का था, समझा तो नहीं। लेकिन 'जलवा' देखने में क्या है! ...बाड़ से गोविंद इतना खुला नहीं था। सो गर्मी की दोपहर में एक दिन गोविन्द ने दीपक के आने के बाद दरवाज़ा बन्द कर लिया। घर में दोनों औरतें काम निबटाकर ज़रा लेट रही थीं। नाज़िर जी दोपहर की नींद ले रहे थे।

"एय्य्य...!" गोविन्द ने अपने नेकर के बटन खोलते हुए कहा, "ये देखो...!" गोविन्द कमर के नीचे एकदम नंगा हो गया। फिर उसने अपने छोटे-से को हिलाया और दीपक से कहा, "अब तू दिखा।"

दीपक पहले तो शर्माता, टालमटोल करता रहा, फिर उसने अपने जाँघिये के नाड़े को अपने हाथों में थाम ही लिया के 'चलो हो ही जाए'। बोला, "यार... मेरे एक तिल है यहाँ पर...।"

"देखें-देखें...।" और गोविन्द ने दीपक का नाड़ा पकड़कर खींच दिया। एक तो था ही, दूसरा भी नंगा हो गया।

हुआ-हवाया कुछ नहीं, क्योंकि उम्र ही ऐसी नहीं थी कि कुछ हो सकता। न कोई कुछ जानता था। लेकिन गोविन्द अक्सर अब दीपक के सामने कपड़े उतारकर अलग-अलग तरह से करतब करने की कोशिश करता। दीपक को पहले तो कुछ समझ ही में नहीं आता था। मज़ा भी नहीं आता था... लेकिन गोविन्द क्योंकि दोस्त था इसलिए वो उसे इस तरह एक्सेप्ट करने लगा। इससे ज़्यादा कुछ नहीं। पार्टिसिपेशन का तो ख़ैर, दोनों का ही, सवाल नहीं उठता था।

ये सेक्स था भी और नहीं भी था। सेक्स अँग्रेजी भाषा में जना और आजकल सर्व-व्याप्त बड़े महदूद मानी वाला शब्द है। अगर इसके मानी और

फैलाए जाएँ और अगर इसे औरत और मर्द के दरमियान से उठाकर समझा जाए तो दरअसल सारा कुछ इस जग में सेक्स ही है। पूर्णता की तलाश। पूर्णत्व से ही निकलकर-अधूरा होकर- अपने स्रोत की तलाश में भटकता हुआ। एक से दूसरे के प्रति आकर्षण, जो केवल नर और मादा ही नहीं बल्कि उससे कहीं ऊपर। शायद अर्धनारीश्वर और पूर्ण-पुरुष की व्याख्याएँ ही इसे सही रूप में समझा पाए। अन्दर के मानवीय शून्यों को भरने की तलाश शायद इसी का नाम है। स्थूल रूप से इस गुण को सतही तौर पर सेक्स ही माना जाता है। शायद दीपक और गोविन्द अपने-अपने शून्यों- लकुनाज़- की भरपाई इस तरह– उन्हें भूलने की कोशिश से करते हों! लेकिन ये तो वे जानते नहीं थे!

बाड़ की उदय करंदीकर से ज़्यादा पटती थी। दोनों मराठी बोलते थे। उन दोनों का एक-दूसरे के घरों में आना-जाना था। बाड़ का उदय के घर में ही ज़्यादा वक़्त बीतता था। उदय का घर उसी मोहल्ले में तीन मकान छोड़कर था। उदय के यहाँ जाने के पीछे दो बातें थीं। एक कि उदय के यहाँ काफी बड़ा और खुला-खुला आँगन था जिसमें इधर-उधर फूलों के पौधे लगे थे और वो बाड़ के घर के उस छह फुटा टुकड़े से कहीं बड़ा 'आँगन' था जहाँ वो दुनिया पर दरवाज़ा बन्द करके आसमान निहार सकता था। और दूसरी बात थी– ज्योत्स्ना! उदय की बहन। ज्योत्स्ना करंदीकर अच्छी-खासी लम्बी थी। छरछरा बदन, गोरा रंग। लेकिन बस! दाँत उसके ज़रा-ज़रा बाहर निकलते हुए से थे। ख़ूबसूरत वो नहीं थी लेकिन उसकी हंसी बहुत बेबाक़ और दिल से निकलती हुई होती थी। वो बाड़ से बड़ी थी– तक़रीबन छह-सात साल, लेकिन वो बाड़ को अच्छी लगती थी और उसे उसके पास होने में एक अजीब से न बताए जा सकने वाले सुख का अनुभव होता था। अब इसमें कोई मर्द-औरत की वात नहीं थी, क्योंकि बाड़ अभी इस उम्र तक ही नहीं पहुँचा था। लेकिन शायद वो ही बात–अपने अन्दर के ख़ालीपन को–शून्य को–भर पाने की इच्छा...! जो भी हो! बाड़ घंटों वहीं रहता। कमरे उस घर में ज़्यादा नहीं थे। पानी आँगन में ही चिमनी लगाकर गर्म किया जाता था और नहाना-धोना ज़्यादातर आँगन में ही होता था। और ज्योत्स्ना को नहाने के बाद गीली साड़ी में लिपटी देखकर बाड़ नज़र हटा न पाता था। फिर घंटों अपनी ख़लवत के तसव्वुर में इस तस्वीर को दोहरा-दोहराकर देखता रहता।

एक दिन बाड़ वहीं था। उदय को किसी काम से माँ ने ऊपर बुलाया था। ज्योत्स्ना स्कूल से आई थी। उसने कापियाँ रखीं, चप्पल उतारी और हाथ-मुँह

धोने के लिए साड़ी का पल्लू समेटकर पीठ पर डाला कि पीछे से बाड़ आकर उससे चिपट गया।

"काय करतोय बाड़...?" (*क्या करते हो बाड़*)

"मला चाँगला वाटता! (*मुझे अच्छा लगता है*)

"सोड...सोड मला...! (छोड़ो-छोड़ो मुझे)

इतने में उदय के ज़ीना उतरने की आवाज़ आई और बाड़ को ज्योत्स्ना को छोड़ना पड़ा। वो नहीं चाहता था कि उसकी ये बात कोई और जान पाए। कभी-कभी बड़े हो जाने पर भी कुछ बातें होती हैं जिन्हें हम किसी के भी साथ शेयर नहीं करना चाहते। कहीं किसी हद तक हर शख़्स 'इंडिविजुअल' है। ये 'सोशल एनिमल' वाली बात तो सोसाइटी को सूट करती है... बहरहाल! बाड़ को अपनी समझ में ज्योत्स्ना से प्यार हो गया था। ये बात और है कि उस उम्र और उस ज़माने में प्यार के मानी भी उसे कितने मालूम थे!

ज्योत्स्ना की सहेली थी गीता निगम। दोनों एक ही स्कूल में दसवें दर्जे में पढ़ते थे। गीता गदराए बदन की भरी-भरी साँवली-सी लड़की थी। चेहरा भी उसका गोल-गोल था। क़द उसका ठीक-ठाक था लेकिन उसकी बनावट कुल मिलाकर उसे क़रीब-क़रीब नाटी नहीं तो नाटी होने का भरम ज़रूर पैदा करती थी। बड़ी-बड़ी गोल-गोल काली-काली आँखें, लम्बी चोटी में गुँथे घुटनों तक लटकते बाल, तेल पिया चमकता चेहरा और हमेशा साफ़-सुथरी साड़ी। उस ज़माने में सभी लड़कियाँ इस उम्र से साड़ी पहनने लगती थीं। गीता ज़रा फ़ैशनेबुल थी। माँ उसकी थी नहीं। पिता भर थे। बाक़ी सिर्फ एक बुआ थीं जो मऊरानीपुर में रहती थीं और तीन-छह महीनों में कभी चक्कर लगा जाती थीं। बस! घर का सारा काम गीता करती थी। पिता जी कलक्टरी में हेड क्लर्क थे। सुबह दस बजे साइकिल पर खाने का डिब्बा बाँधकर जाते शाम को साढ़े पाँच बजे वापस आते। रात को गीता पिताजी को खाना खिलाकर ख़ुद खाती और फिर पढ़ने बैठती। दिन में झाड़ू लगाने, बर्तन माँझने वाली एक थी जो आती थी। बाक़ी वक़्त गीता का या तो ख़ाली होता था या पढ़ाई में बीतता था या फिर घूमने-फिरने में। घूमने-फिरने का उसे बेहद शौक़ था। और उसकी चाल में तब और तुर्शी और आँखों में और चमक आ जाती थी जब 'जै जै' इधर-उधर कहीं दिखाई दे जाता।

जै जै राम शरद! सुडौल, खाया-पिया, दंड पेला कसरतिया बदन, चमकता चेहरा, लम्बा क़द और ऊँचे सुर की भारी आवाज़। अखाड़े और कुश्ती का

बादशाह ! शहर का मशहूर दादा...क्या मजाल कि कोई उसे सलाम किए बग़ैर गुज़र जाए। उम्र में बड़ा हो तो पूछे तो ज़रूर कि 'भाई जै जै, सब खैरियत?' और जै जै भी शिष्टाचार से हाथ जोड़कर नमस्कार करे। सब जानते थे कि एक बार जै जै ख़िलाफ हो गया तो बेडा ग़र्क़ ! सरिये, फरसे, साइकिल की चेनें, हॉकियाँ, चाक़ू और-और भी न जाने क्या क्या ! तमंचे तब तक फैशन में नहीं आए थे। जवानी जोश पे थी। लेकिन कसरतियों का उसूल था कि लड़कियों की तरफ़ रुझान नहीं रखते थे। इसलिए जै जै को अंदाज़ा तो था गीता की नज़र का... उसकी नज़र भी गीता को देख तो लेती ही थी, लेकिन वो इस तरफ़ भाव नहीं देता था। गीता को उसके तेवर, इधर-उधर बे-वजह किसी को हड़का देना, दम दे देना बहुत भाता था। गीता अपने ख्यालों में कितनी बार जै जै के साथ अखाड़े में उतरकर उसे कुश्ती में मात दे चुकी थी। ज़िन्दगी में लेकिन उसे धीरे-धीरे लगने लगा था कि जै जै किसी लड़की के चक्कर में नहीं आने वाला।

मज़ा ये था कि इत्तेफ़ाक़ से अगर जै जै कहीं किसी ओट में खड़ा हुआ होता या गीता की नज़र उस पर न पड़ती तो गीता दिखी नहीं कि जै जै बड़ी ज़ोर से खँखारता और फिर–

'आख़-थू'...यूँ ही...। फ़िज़ूल... या फिर बड़ी ज़ोर से डकार लेते हुए 'ॐ-तत्सत्त' की आवाज़ करता ताकि गीता उधर मुड़े और उसे एक नज़र देख ले। साथी जै जै के सब जानते थे। गीता की तरफ़ किसी की क्या मजाल शहर का कोई आँख उठाकर देख तो ले...दद्दा का माल जो था...। और जै जै का दिल दोहरा होकर अखाड़े और दुनियादारी की दुविधा में पड़ा है ये भी सब जानते थे !

"दद्दा ! अब जे तो बताओ के कब तक चलेगा ऐसे?" मुन्ना ने पूछा। मुन्ना क़रीबी था, पूछ सकता था।

"कैसा?" जै जै ने समझा मगर फिर भी न समझते हुए बोला।

"जेई ...उतै बे फिर रइं तुमाये लिए और इते तुम खखार रये उनके लिए... तो ये जो ॐ तत्सत हो रिया...। जे कब तक एसई चलेगा?"

"चुप बे ...साला...लड़की देख के खखारा क्या में ने?"

"नई वो तो तुमाये मोह में मच्छर चला गया होगा इसलिए खखारा, लेकिन नैक उनकी भी तो सोचो...बे फिर रईं मीराबाई बनीं...तुमाये भजन गातीं...उनका क्या होगा?"

"बहुत मेहनत से बनती है बॉडी बेटा ! अखाडा, कसरत, दूध, मलाई... ऐंह...क्या-क्या नई किया में ने... ! क्या इसलिए?" जै जै ने मुन्ना की पीठ पर

धौल जमाई।

"तो फिर किसलिए?...जे जो बॉडी बनाई, इत्ती बढ़िया वनाई तो किसलिए बनाई?...ऐंह... ?...ऐसे इ बेकार करने के लिए...? ...तो अव वखत आ गया है जिसके लिए बनाई है उसे दे दो...घर बसाओ ! कोई काम धंधा डाल लो।"

"शाबाश बेटा !... उसका बाप तो तैयार बैठा है कन्यादान के लिए?...लोग ताने देंगे सो अलग !"

"बाप को तैयार कर लिया जाएगा और रही बात लोगों की सो किस साले में हिम्मत है जो दद्दा के ख़िलाफ़ जाए !...आग लगा देंगे झाँसी भर में।"

इतने में बड़े-बड़े गिलासों में मोटी-मोटी मलाई डली लस्सी आ गई और पाँच-छह जितने भी थे साथ में सब ने पी। बात गई-आई हो गई। लेकिन गर्मी की शाम में मुन्ना की वो बात जै जै के ज़हन में इत्र की ख़ुशवू की तरह घुस गई। कई बार ख़्याल आया कि गीता लड़की तो अच्छी है। भरी-भरी ! ले जाओ इसको ग्वालियर ...वहीं शादी कर लेंगे पंडित बुला के। फिर वापस आए तो कोई क्या कर लेगा ! लेकिन बस ये सब वो कभी-कभी सोचता ही रहा।

गीता की ज़िन्दगी का ख़ालीपन उसके सामने आए दिन मुँह बाये खड़ा हो जाता था। अपनी तन्हाइयों में जै जै का ख़्याल बहाना था, सहारा तो नहीं था। इसी आपा-धापी में गीता बारहवीं पास हो गई और निगम साहेब ने उसके लिए शिवपुरी में रिश्ता भी ढूँढ़ निकाला। ठीक-ठाक लोग थे। लड़के के पिता दाँत के डॉक्टर के नाम से जाने जाते थे। डॉक्टर क्या थे...थे कुछ बहरहाल !...एक डिग्रीनुमा भी कुछ उन्होंने अपने नाम के आगे लगा रखी थी बोर्ड पर और दाँत उखाड़ते-बैठाते भी थे। तो डॉक्टर हो गए। आज़ादी के बाद ऐसे तमाम किस्म के डॉक्टरों को सनद दे दी गई थी। लड़के ने भी कुछ छह-आठ महीने का दरभंगा वग़ैरह से कोर्स किया था सो वो भी दाँत का डॉक्टर बन गया और बाप की गद्दी सम्भालने लगा।

शादी में बारात कोठी कुआँ की धर्मशाला में ठहराई गई। वो जै जै के इलाक़े में थी। सो जै जै और उसके साथियों ने बारातियों की भरपूर सेवा की। सेवा की गई अपने इलाके की लड़की के ब्याह के नाम पर, लेकिन सब जानते थे कि जै जै के दिल में उसकी मोहब्बत उससे ये सब करवा रही है।

गीता चली गई– जै जै के तने-तने गठीले सख़्त बदन को छूने-महसूस करने के ख़्वाब लेकर। जै जै ने उस दिन विदा के बाद रोज़ से कम-से-कम तीन गुना दंड पेले और काफी देर तक बावड़ी में बैठा दूध के कटोरे-पे-कटोरे

डकारता रहा। अकेले। कोई आता तो वो उसे भगा देता।

पिछले दो-तीन सालों में दीपक की आवाज़ में कुछ भारीपन आना शुरू हो गया था। अब गोविन्द से उसका मिलना कम ही होता था। गोविन्द के ताऊ जी गोविन्द को गणित की ट्यूशन पढ़ने भेजने लगे थे। बाड़ू कभी-कभी आ जाता था वरना दीपक अकेला घंटों छतों पर टहलता रहता, कभी झिंझरी पर खड़ा इधर-उधर देखा करता। पतंग उड़ाने का उसे शौक़ बहुत था लेकिन कभी ठीक से उड़ा नहीं पाया, न किसी से उड़ाना सीख ही पाया। उसका बड़ा भाई छुट्टी में आता था, एक-आध महीने के लिए, तो वो भाई कम और दूर का मेहमान ज़्यादा था। उसे तो ये भी याद नहीं रहता था कि दीपक किस दर्जे में पढ़ता है और ज़रा-ज़रा-सी बात पे दे दनादन– थप्पड़-पे- थप्पड़...। शायद उसका अपने शून्यों– अपने लकुनाज़– को भरने का यही तरीक़ा होगा! इसलिए दोनों में रिलेशनशिप कहने भर को ही थी!

दीपक के पिता उसके अकेलेपन को समझते थे इसलिए उन्होंने उसमें तरह-तरह की किताबें पढ़ने की आदत डलवा दी थीं। किताबें उस ज़माने में इतनी महँगी भी नहीं थीं। उसके बाद दीपक ने ख़ुद अपने-आपको पढ़ने और फिर लिखने में समो लिया। कोर्स की किताबों में अलबत्ता उसे कभी दिलचस्पी नहीं रही। फिर और रास्ते खुलते गए– छोटे-छोटे मुशाइरे, छोटी-छोटी नशिस्तें, स्थानीय अख़बारों में पार्ट टाइम काम, लिखना और उससे सीखना–ऐसे जैसे कोई छोटी-सी नाव खुली हवा में आवारा, लहरों के साथ रोमांस करती हुई इठलाती– अठखेलिया करती चली जाए–यूँ ही लापरवाह। न जाने कहाँ...या कहीं भी!...दीपक को इसमें मज़ा इसलिए आता था कि वो इस सब में अपने बारे में और अपने से जुड़ी तमाम बातों को भूल जाता था। जीवन का सत्य तो यही है न– आनन्द की तलाश। इसी में तो सब भटक रहे हैं– फिर चाहे वो गद्देदार कुर्सी पर बैठने की इच्छा हो या ठंडा पानी पीने की या नेता बनने की या फिर कोई और...जिसको जिसमें आनन्द मिले! और आनन्द अपूर्णता में कहाँ!

वैसे तो शाम को अक्सर दीपक घर पर होता नहीं था, लेकिन अगर हुआ तो जैसे ही आरती की घंटी की आवाज़ आई कि सीधे प्रसाद लेने पूजा वाली कुठरिया में पहुँच जाता था। उसकी दादी क़रीब अस्सी की तो होंगी या होने आई होंगी, लेकिन साहेब जाड़ा, गर्मी, बरसात– क्या मजाल कि उनका नियम बदल जाए। भिनसारे उठती थीं। घर का क़रीब-क़रीब एक हिस्सा ही उनकी तरफ़ था। एक आँगन जिसमें वे नहाती थीं, उससे लगे हुए दो कमरे, एक दालान जो चौके में जा कर खुलती थी। उसी के बग़ल में ठाकुर जी के लिए एक कमरा– जिसमें ठाकुर जी का ही सामान रहता था– गद्दा, चद्दर, धूप, ऊदबत्ती, कपूर, चन्दन, पोथियाँ और-और भी कुछ-कुछ इधर-उधर का छोटा-मोटा। वहाँ किसी का भी दाख़िला मना था। छुआछूत बहुत मानती थीं, ज़रा चौके में किसी ने क़दम रख दिया कि उस दिन वो खाना न खाएँ। वे ख़ुद सुबह-सुबह उठकर पवित्र होकर सीधे पूजा में बैठ जाती थीं। पूजा क़रीब दो घंटे चलती थी। फिर सीधे उठकर चौके में जाकर चाय बनाएँगीं, नाश्ता बनाएँगीं सारे घर को बुलाकर खाने के लिए देंगी फिर ख़ुद खाएँगी। घर में ले-देकर वो ही एक औरत थीं। उसके बाद खाने का सारा इंतज़ाम करेंगी– दाल निकालना, चावल बीनना वग़ैरह... ताकि जब महराजिन आए तो खाना बना सके। दोपहर में ज़रा लेटे तो लेटे नहीं तो पापड़-वापड़ कुछ बनाना हुए तो वक़्त कट गया और अगर कोई मिलने-मिलाने आ गया तो फिर तो बस...लेटने-आराम करने का सवाल ही नहीं...। तब तक फिर चाय बनाने का समय हो गया। वे अक्सर कहा करती थीं कि "ग़रीबी बड़ी बुरी चीज़ है। हमारे पिता के पास पैसा होता तो हम को दोहाजु से काहे ब्याहते?" दीपक के बब्बा से हालाँकि उन्हें कोई शिकायत नहीं थी, लेकिन फिर भी उनके दिल में ये ख़्याल बराबर बना रहा कि जिस शख़्स से उनकी शादी हुई उसकी पहली बीवी मर चुकी थी और वे उसकी दूसरी बीवी थीं। बब्बा के मरने के बाद जब भी फुर्सत मिलती सर्दी की दोपहरों में वे रामायण या कल्याण पत्रिका के पुराने अंक लेकर बैठ जातीं और एक-एक लफ़्ज़ जोड़-जोड़कर पढ़ने की कोशिश करतीं। धीरे-धीरे इसी तरह उन्होंने पढ़ना सीख लिया था। शाम को दीया-बत्ती के समय उनकी पूजा फिर चलती थी–क़रीब डेढ़ घंटा। उसके बाद आरती...। फिर भोग। वो भोग लेने घर के छोटे-छोटे बच्चे ख़ूब जमा हुआ करते थे। अब तो ख़ैर कोई रहा ही नहीं... दीपक भी बड़ा हो गया। लेकिन जब भी वो घर में होता भोग लेने ज़रूर जाता। आरती में भी खड़ा होता। ये और बात है कि बाद में दादी जिस हाल में जिस तकलीफ के साथ मरीं वो देखने के बाद दीपक ने फिर कभी पूजा की तरफ़ रुख़ नहीं किया और ग्रेजुएशन तक-जब तक वो झाँसी में रहा– यही सोचता रहा कि इतनी पूजा करने का क्या सिला मिला दादी को?...कोई उसे यह नहीं समझा पाया कि पूजा कोई भगवान के लिए थोड़े ही करता है! और क्या हर शख़्स रामायण बार-बार रामकथा जानने के लिए ही पढ़ता है!

उधर गीता के ब्याह के बाद निगम साहेब अकेले भी हो गए थे और ज़माने

के डर से बेफिक्र भी हो गए थे। कहानियाँ तो उनकी बहुत दिनों से मोहल्ले में घूमती थीं लेकिन ठीक से कोई कुछ जानता न था न कह पाता था...। अब मौक़ा मिला तो निगम साहेब ने अपने घर में झाड़ू-बर्तन करने वाली को बाक़ायदा रख लिया। कोई क्या करेगा ...बातें करेगा?...पीछे से हँसेगा!... हँसे...! निगम साहेब को जो अच्छा लगा उन्होंने किया।

श्रीवास्तव साहेब अपने ज़मींदार पिता की इकलौती औलाद थे इसलिए प्रत्यक्ष रूप से तो नहीं लेकिन परोक्ष रूप से– पैसे से, संसाधनों से, लोगों को जोश दिलाने से– आज़ादी की लड़ाई में बराबर हिस्सा लेते रहे। चंद्रशेखर आज़ाद, भगवान दास माहौर, मास्टर रूद्र नारायण जैसे तमाम आज़ादी के सिपाही उनसे छुप-छुपकर मिलते रहते, मदद लेते रहते और अगर कभी ज़रूरत आन पड़े तो हवेली के पिछवाड़े शरण भी लेते रहते। ये मामला 1947 के बाद समाप्त हो गया। श्रीवास्तव साहेब ख़ाली हो गए तो बहुत विचलित रहने लगे। लेकिन उनकी पत्नी की बीमारी और बच्चों की परवरिश ने उनके पास कुछ और सोचने का समय ही नहीं छोड़ा। दीपक जब हाई स्कूल पास हो गया और उन्हें लगा कि अब वह बड़ा हो गया है और अपना ख़्याल ख़ुद रख सकता है तो उन्होंने हवेली के पिछवाड़े के तीन कमरों को जोड़कर एक वीथीनुमा बनवा दी और वहाँ खोल दिया एक पुरातत्व का संग्रहालय जैसा और कुछ कुर्सियाँ डाल कर बना दिया एक रीडिंग रूम। 'संग्रहालय' में तमाम आस-पास के गावों / मंदिरों से लाई गई मूर्तियाँ, पुराने-पुराने सिक्के, डाक टिकट और इस प्रकार के कई और मोनुमेंट्स सजाए गए ताकि नई पीढ़ी का इतिहास से सम्बन्ध बना रहे। रीडिंग रूम में उन्होंने भारत में अँग्रेजी राज से जुड़ी और अँग्रेज़ों के भारतीयों के ऊपर अत्याचार पर लिखी गई तमाम किताबें और दस्तावेज़ रखे। इस निजी 'म्यूज़ियम-कम-रीडिंग रूम' को श्रीवास्तव साहेब स्वयं सुबह नौ बजे खोलते थे और दोपहर के एक बजे तक खुला रखते थे। इसमें आने, देखने, पढ़ने की कोई फ़ीस नहीं थी।

कुछ दिनों बाद जब दीपक ग्रेजुएशन के लिए कानपुर चला गया और उसकी माँ जो अपनी किस्मत के किसी भोग भुगतने के लिए जी रही थीं चल बसीं, श्रीवास्तव साहेब और उनकी माँ ही हवेली में रह गए।

आज़ादी के बाद जिस प्रकार का 'डेवलपमेंट' शुरू हुआ उसके चलते झाँसी में नगर पालिका ने खंडेराव दरवाज़ा तोड़कर सड़क चौड़ी करने का ऐलान कर दिया। लोगों ने आपस में तो खुसुर-पुसुर करना शुरू कर दिया, लेकिन सामने मुख़ालफ़त करने की हिम्मत किसी की न पड़ी। श्रीवास्तव साहेब ने सुना तो बोले खंडेराव दरवाज़े का तो रानी लक्ष्मीबाई के अँग्रेज़ों से युद्ध के दौरान बहुत महत्त्व रहा है। इसे मैं टूटने नहीं दूँगा। सबने सलाह दी 'काहे इस झंझट में पड़ते हो। सरकारी काम है आड़े आओगे तो अन्जाम अच्छा न होगा। कोर्ट, कचहरी, मार-पीट, लाठीचार्ज, सज़ा, हवालात कुछ भी हो सकता है और एक बार इज़्ज़त पे आँच आई तो– बदनाम!'

श्रीवास्तव साहेब ने नगर पालिका के चेयरमैन से बात की। उसने हँसी में उड़ा दिया। जिस दिन दरवाज़ा तोड़ने का कार्यक्रम तय था श्रीवास्तव साहेब अपने तीन दोस्तों को लेकर दरवाज़े के सामने बैठ गए। बोलो 'अब तोड़ो'! अब चार आदमियों को मारकर दरवाज़ा तोड़ने की हिम्मत तो नगर पालिका में थी नहीं। धमकाया गया, धकियाया गया, समझाया गया, पुलिस बुलाई गई, कलक्टर आया, कमिश्नर आया,लेकिन तब तक इन चारों की देखादेखी शहर के तमाम और लोग भी आन्दोलन में जमा होने लगे। जै जै और उसके साथी भी इससे जुड़ गए और मजमा बढ़ता गया। मामला तीन दिनों तक चला। न वहाँ से श्रीवास्तव साहेब हटे न लोग। अख़बारों ने रोज़ छापा। तब मामला 'डिस्कशन' पर आया। मिलकर तय किया गया कि दरवाज़ा न तोड़ा जाए, दरवाज़े के बीचोंबीच एक खम्भा और खड़ा करके दोतरफ़ा सड़कें निकाली जाएँ ताकि आवाजाही भी सुचारू हो जाए और इतिहास की निशानी खंडेराव दरवाज़ा भी न तोड़ा जाए।

कुछ दिनों बाद इसी खंडेराव गेट के पास हनुमान जी के मंदिर से ज़रा पहले गोविन्द ने सनद मिलने के बाद अपना वकालतख़ाना खोल लिया था। वकालत भी ठीक-ठाक चलने लगी थी। फिर न जाने उसे क्या सनक सवार हुई कि उसने तय किया कि मंगलवार की शाम को उसके पास जो भी मुवक्किल आएगा उसका मुक़दमा वो बग़ैर फ़ीस लिए लड़ेगा।

कुछ दिनों ऐसे चला फिर अचानक वो सब कुछ छोड़-छाड़कर हरिद्वार जा कर साधु हो गया। कुछ साल पहले बद्रीनाथ से जो पंडा जी आए थे कहते थे कि 'शायद' उन्होंने गोविन्द को केदारनाथ की तरफ़ जाते देखा था। लेकिन उसे पहचानना मुश्किल था और दुनिया से अब उसका कोई वास्ता नहीं रह गया था। किसको किसका शून्य कहाँ और कैसे ले जाए– क्या पता!



1951 में जन्में, झाँसी में पले बढे, अशोक कुमार ने बी.एससी. के बाद लन्दन जा कर टीवी प्रोडक्शन/डायरेक्शन के कोर्स किये और उसी दौरान बीबीसी के लिए भी काम किया। लन्दन में इनका मन नहीं लगा। 1974 में ये वापस आ गए और दिल्ली टीवी (तब दूरदर्शन नहीं था) में प्रोडूसर हो गए। वहां से ये पूना फिल्म संस्थान में फैकल्टी के बतौर बुला लिए गए। वहां से दो साल बाद 1977 में ये बंबई आ गए जहाँ ये बीआर एड्स में जनरल मैनेजर हो गए। 1984 में इन्होने अपनी प्रोड्कशन कंपनी-इनकॉम-शुरू की। इस कंपनी में इन्होने पैराशूट, ओनिडा, गुड नाईट, कैडबरी'स जैसी जानी मानी कंपनियों के एड्स बनाये और तमाम वृत्त चित्र भी बनाये। भारत में महारानी लक्ष्मीबाई पर एक घंटे की फिल्म बनाने वाले अशोक कुमार एकमात्र प्रोडूसर/डायरेक्टर हैं।

अशोक कुमार टीवी चैनलों में वरिष्ठ पदों पर कार्यरत रहे हैं। माइका अहमदाबाद में मीडिया के प्रोफेसर रहे हैं तथा रामोजी यूनिवर्स में एडवरटाइजिंग क्रिएटिविटी के प्रोफेसर रह चुके हैं।

ये टाइम्स ऑफ़ इंडिया तथा जनसत्ता के मीडिया कलुमनिस्ट रहे हैं तथा दो बार अंतर्राष्ट्रीय फिल्म फेस्टिवल में सिलेक्शन समिति मेंबर रह चुके हैं।

इनके दो उपन्यास-'दुनिया फिल्मों की' तथा 'इंस्टिट्यूट' प्रकाशित हो चुके हैं तथा हिंदी-उर्दू और इंग्लिश में ये सामान रूप से लिख रहे हैं। इनकी कहानियां, कवितायें तमाम पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं।